को राज्य के राज्यपाल-पद पर नियुक्त करने की घोषणा की। राज्य के राज्यपाल-पद पर कानूनगो की नियुक्ति भी केन्द्र और बिहार राज्य की गैर कांग्रेसी सरकार के बीच कटु-आलोचना और आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति के विकास करने में सहायक सिद्ध हुई। राज्यपाल कानूनगो की नियुक्ति का मुख्यमंत्री सिन्हा ने सार्वजनिक रूप से विरोध किया। उन्होंने कहा कि नियुक्ति के पूर्व केन्द्रीय सरकार ने उनसे परामर्श भी नहीं किया था। अतः उनके विरोध के बावजूद केन्द्र ने राज्यपाल को उन पर थोपा है।[7] मुख्यमंत्री ने यह भी स्पष्ट रूप से घोषणा की थी कि केन्द्र की इस नीति के विरोध में मंत्रिमंडल द्वारा कानूनगो का स्वागत नहीं किया जायेगा।[8] फलस्वरूप जब राज्यपाल कानूनगो अपना कार्यभार संभालने पटना आये तो मुख्यमंत्री ने उनका स्वागत करने के लिए उनकी अगवानी नहीं की थी। संसद में और उसके बाहर विपक्षी दलों की इस आलोचना का खण्डन करते हुए (कि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं लिया गया) केन्द्रीय सरकार की विज्ञप्ति में कहा गया था कि राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व प्रधानमंत्री और गृहमंत्री ने राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श किया था।[9] लोकसभा में सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हुए तत्कालीन गृहमंत्री यशवन्तराव बलवन्तराव चव्हाण ने कहा था कि उन्हें कानूनगो की नियुक्ति के विरोध में राज्य सरकार का तार मिला था।[10] साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि राज्य के मुख्यमंत्री ने कानूनगो के बारे में यह भी राय व्यक्त की थी कि वे 'अच्छे व्यक्ति' हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि उन्होंने उनकी नियुक्ति की पुष्टि की है।[11] विपक्षी सदस्यों का आरोप था कि पूर्व राज्यपाल श्री अनन्तशयनम् आयंगर द्वारा केन्द्रीय सरकार के दबाव में आकर कार्य नहीं करने और राज्य-मंत्रिमंडल के साथ सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की नीति के कारण ही उन्हें केन्द्र के कोप का शिकार बनना पड़ा और उनकी पदावधि को नहीं बढ़ाया गया। साथ ही कानूनगो की नियुक्ति के पीछे राज्य में कांग्रेसी-हितों के संरक्षण का भाव प्रमुख रहा था। केन्द्रीय सरकार ने दृढ़ता का दृष्टिकोण अपनाते हुए राज्य सरकार के विरोध को नजरअन्दाज करके कानूनगो को बिहार के राज्यपाल-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। स्वतंत्रता के बाद यह पहला अवसर था जबकि राज्यपाल की नियुक्ति का प्रश्न देशव्यापी चर्चा और विवाद का विषय बना था।

सन् 1967 में पश्चिमी बंगाल में अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल सत्ता में आया। केन्द्रीय सरकार ने राज्य के राज्यपाल-पद पर धर्मवीर की नियुक्ति की। मुख्यमंत्री अजय मुखर्जी और उपमुख्यमंत्री ज्योति बसु ने धर्मवीर की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति का तीव्र विरोध किया। लेकिन केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकार के विरोध की उपेक्षा करते हुए धर्मवीर को ही राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया। पश्चिमी बंगाल की वामपंथी सरकार और राज्यपाल के बीच सम्बन्ध कभी मधुर नहीं रहे। नवम्बर, 1967 ई. में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी के निर्णय ने इनको और भी खराब कर दिया। राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा से अलग हुए पी.सी. घोष को नये मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया। लेकिन यह सरकार भी स्थिर नहीं रह सकी। अन्त में, राज्य में विधानसभा को भंग कर दिया गया, और राष्ट्रपति शासन लागू किया

गया। सन् 1969 ई. को राज्य में मध्यावधि चुनाव संपन्न हुए। इन चुनावों में अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे को राज्य विधानसभा में विशाल बहुमत प्राप्त हुआ। वामपंथी मोर्चे ने सत्तारूढ़ होते ही राज्य के राज्यपाल धर्मवीर को हटाने की माँग प्रारम्भ कर दी। मोर्चे की सरकार का यह तर्क था कि जनता द्वारा मध्यावधि चुनाव में मोर्चे को दिया गया विशाल बहुमत यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है कि राज्यपाल धर्मवीर द्वारा मोर्चे की सरकार को बर्खास्त करने का निर्णय गलत था। अतः केन्द्रीय सरकार का यह दायित्व है कि वह उन्हें राज्य के राज्यपाल पद से हटा लें। प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार और राज्यपाल धर्मवीर दोनों ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया परन्तु राज्य सरकार ने बहुत ही मुखरित होकर धर्मवीर का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। अन्त में 1 अप्रैल, 1969 ई. को राज्यपाल धर्मवीर छुट्टी पर चले गये, और 1 अगस्त, 1969 ई. को उन्होंने राज्य के राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके साथ ही पश्चिमी बंगाल की राजनीति के एक अध्याय का अन्त हुआ। इस घटनाक्रम का विश्लेषण करते हुए डॉ. सुभाष काश्यप ने लिखा है कि — यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि केन्द्रीय सरकार ने इस मामले में पर्याप्त दूर-दृष्टि तथा चतुराई से काम नहीं लिया। केन्द्रीय सरकार के लिए सबसे आसान तरीका यह था कि जैसे ही निर्वाचन-परिणाम ज्ञात हुए थे, वैसे ही धर्मवीर के स्थानान्तरण की घोषणा कर दी जाती और संयुक्त मोर्चे को इस दिशा में पहल करने का अवसर ही नहीं दिया जाता। यह उपाय इसलिए और भी सुगम था कि धर्मवीर ने स्वयं भी सेवामुक्त होने की इच्छा प्रकट की थी।[12] इस विवाद को समाप्त करने की दृष्टि से यही श्रेष्ठ उपाय था। श्री धर्मवीर के उत्तराधिकारी की नियुक्ति को लेकर भी विवाद छिड़ गया। 6 अगस्त, 1969 ई. को लन्दन में भारत के उच्चायुक्त शान्तिस्वरूप धवन की पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई। इस नियुक्ति को करते समय भी अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व वाली संयुक्त-मोर्चा सरकार से सलाह नहीं ली गई।[13] सन् 1980 ई. में उत्तरप्रदेश में भी ऐसा ही विवाद उपस्थित हुआ था। केन्द्र द्वारा राज्य के मुख्यमंत्री बनारसीदास की इच्छा के विरुद्ध राज्यपाल जी.डी.तपासे का हरियाणा के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरण कर के सी.पी.एन. सिंह की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई।[14] जम्मू-कश्मीर में राज्यपाल-पद पर जगमोहन की नियुक्ति करते समय केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य के मुख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला से परामर्श नहीं किया गया।

फरवरी, 1988 में पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल प्रो. नुरूल हसन को उड़ीसा के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरित करने और उनके स्थान पर टी.वी. राजेश्वर राव की नियुक्ति को लेकर राज्य के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने आपत्ति उठाते हुए कहा कि राज्य में राज्यपाल को बदलने के सम्बन्ध में उनसे सलाह नहीं ली गई थी।

मई, 1989 में हरिदेव जोशी की असम और मेघालय के राज्यपाल-पद पर नियुक्ति के बारे में केन्द्र सरकार द्वारा असम की सरकार द्वारा परामर्श नहीं लेने के बारे में भी राज्य के मुख्यमंत्री प्रफुल्लकुमार महन्त ने अफसोस जाहिर किया। श्री महन्त ने कहा कि "केन्द्र ने राज्यपाल की नियुक्ति पर उनसे विचार-विमर्श करना भी उपयुक्त नहीं समझा, जो कि एक सामान्य परम्परा है। नियुक्ति की घोषणा से पूर्व जब हमें इसकी सूचना दी

गई तो हमने सिद्धान्तों के आधार पर अपनी नाराजगी व्यक्त की, वैसे व्यक्तिशः हम जोशी के विरोधी नहीं हैं। उन्होंने कहा कि यह और भी ज्यादा आश्चर्य की बात है कि जहाँ जोशी की नियुक्ति पर मेघालय के मुख्यमंत्री से सलाह की गई, वहाँ उनसे कोई बात नहीं की।"[15] सन् 1989 में विश्वनाथप्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल-पद पर जगमोहन की नियुक्ति करते समय तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. फारुख अब्दुल्ला से सलाह नहीं ली।

अगर उपर्युक्त पक्ष की समीक्षा की जाए तो एक तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि नियुक्ति सम्बन्धी विवाद के पीछे राजनीतिक कारण ही मुखरित होते हैं, न कि सांविधानिक। केन्द्रीय सरकार ने अपने 'विश्वस्त व्यक्तियों' को गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों के विरोध करने के बावजूद भी इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर नियुक्त किया था कि वे राज्य सरकारों पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम सिद्ध होंगे। दूसरी तरफ विपक्षी राज्य सरकारों में यह धारणा घर कर गई थी कि केन्द्र द्वारा आरोपित ये राज्यपाल उनका दमन करने, गिराने या स्थानीय कांग्रेसी नेताओं की सहायता के लिए ही नियुक्त किये गये हैं। इसके साथ-साथ एक प्रवृत्ति यह भी दृष्टिगत होती है कि यह विवाद केवल राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों और केन्द्रीय सरकार के बीच उभर कर सामने आया। कांग्रेस-शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों और केन्द्रीय सरकार में यह विवाद कभी नहीं उभरा। अगर यह विवाद वहाँ नहीं उभरा तो इसके पीछे मूल कारण यह रहा है कि राज्यों की कांग्रेसी सरकारों को केन्द्र में अपने दल की सरकार के सत्तारूढ़ होने के कारण इस तरह के भय की आशंका ही प्रतीत नहीं हुई थी।

राज्य के बाहर के व्यक्ति की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में दूसरी यह परम्परा विकसित करने का प्रयास किया गया कि राज्य से बाहर के व्यक्ति की ही इस पद पर नियुक्ति की जाए। स्थानीय राजनीति के दलदल से राज्यपाल को परे रखने के लिए ही इस प्रकार की व्यवस्था करने की मान्यता को स्थान दिया गया है। राज्यपालों की नियुक्ति करते समय इस परम्परा को उचित महत्त्व दिया गया, लेकिन इस दिशा में भी अनेक अपवाद देखे जा सकते हैं। कु. पद्मजा नायडू को पश्चिमी बंगाल की निवासी होने के बावजूद भी उसी राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इसी तरह 1951 ई. में डॉ. एच.सी. मुखर्जी को पश्चिमी बंगाल में, 1956 ई. में मैसूर के महाराजा जय चामराज वाडियार को मैसूर में, सन् 1965 ई. में तत्कालीन सदरे रियासत डॉ. कर्णसिंह को जम्मू-कश्मीर में, और 1966 ई. में सरदार उज्ज्वलसिंह को पंजाब में अपने-अपने राज्यों का निवासी होने के बावजूद भी राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया।

संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण

संविधान निर्माताओं का विचार था कि राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति ऐसे होने चाहिएँ, जो प्रतिष्ठित हों और जिनकी योग्यता में किसी तरह का कोई

संदेह नहीं हो। वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिएँ, जिनकी सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठा हो। राज्यपाल-पद पर प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्तियों से यह भी अपेक्षा की गई थी कि वे प्रान्तीय दलगत राजनीति से ऊपर उठकर राष्ट्रीय सन्दर्भ में चिन्तन कर सकें। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी संविधान सभा में कहा था कि केवल वे ही व्यक्ति राज्यपाल के रूप में नियुक्त किये जाने चाहिएँ, जो ख्यातिप्राप्त शिक्षाविद् हों, और जिन्होंने राज्य की राजनीति में भाग नहीं लिया हो।[16] इस तरह से संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों की योग्यता के मापदण्ड के आधार पर नियुक्ति करने की अपेक्षा प्रकट की थी। भारतीय संविधान में राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति की सांविधानिक योग्यताओं का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सामान्यतः राज्य के राज्यपाल के लिए उन्हीं योग्यताओं का निर्धारण किया गया है जो केन्द्र में राष्ट्रपति के लिए वांछित हैं। संविधान के अनुच्छेद् 157 में यह स्पष्ट किया गया है कि इस पद पर आसीन होने वाला व्यक्ति भारत का नागरिक हो और जिसकी आयु 35 वर्ष की हो चुकी हो। अनुच्छेद 158(2) के अन्तर्गत राज्यपाल न तो संसद के किसी सदन और न ही राज्य-विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने से पूर्व अगर वह संसद या राज्य-विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य हो तो उसे इनकी सदस्यता से त्यागपत्र देना पड़ता है। संविधान के अनुच्छेद 158(2) में यह भी व्यवस्था की गई है कि राज्यपाल किसी भी लाभ के पद को ग्रहण नहीं कर सकता है।

नियुक्ति का राजनीतिक मापदण्ड

जहाँ तक राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने वाले व्यक्तियों का प्रश्न है, केन्द्र में सत्तारूढ़ दलों ने अपने 'चहेते-लोगों' को प्रतिष्ठित किया है, फलतः इस पद की सांविधानिक-महत्ता बरकरार नहीं रह सकी। नियुक्ति करने की पद्धति ने इस पद का 'राजनीतिकरण' कर दिया। स्वतंत्रता से लेकर अब तक, केन्द्रीय सरकार के विश्वस्त या कृपापात्र लोगों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता रहा है। सन् 1947 ई. से 1977 ई. तक के कांग्रेस-शासन काल में राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी मापदण्डों का विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य सामने आते हैं — प्रथम, विशिष्ट पराजित कांग्रेज-जनों को इस पद पर नियुक्त किया गया। सर्वश्री नरहरिविष्णु गाडगिल, पाटस्कर, वी.वी. गिरि और गोपालस्वरूप पाठक जैसे पराजित कांग्रेस-जनों को इस पद पर नियुक्त किया गया। द्वितीय, राज्यों के मुख्यमंत्रियों को अपने उत्तराधिकारियों के लिए स्थान छोड़ने के लिए भी उन्हें राज्यपाल बनाया गया, उदाहरणार्थ मैसूर में के.सी. रेड्डी को हनुमन्थैया के लिए मुख्यमंत्री का स्थान रिक्त करने हेतु मध्यप्रदेश का राज्यपाल बनाया गया, राजस्थान के मुख्यमंत्री स्व. मोहनलाल सुखाड़िया को भी उनके उत्तराधिकारी स्व. बरकतुल्ला खाँ के लिए पद छोड़ने हेतु कर्नाटक का राज्यपाल नियुक्त किया गया, असम के मुख्यमंत्री महेन्द्रमोहन चौधरी को भी असम की राजनीति से अलग करने हेतु और शरतचन्द्र सिन्हा को मुख्यमंत्री-पद प्रदान करने हेतु पंजाब का राज्यपाल बनाया गया, आन्ध्र-प्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. चेन्ना रेड्डी को वहाँ की

राजनीति से हटाकर उत्तरप्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। तृतीय, प्रधानमंत्रियों द्वारा अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों को भी राज्यपाल पद पर नियुक्त किया गया। इनमें ए.के. जॉन, अजीतप्रसाद जैन, हरिकृष्ण मेहताब, भीमसेन सच्चर और सत्यनारायण सिन्हा के नाम उल्लेखनीय हैं। चतुर्थ, राज्यपाल-पद को उन व्यक्तियों ने भी सुशोभित किया, जो प्रशासन के क्षेत्र में अपनी कुशलता की छाप छोड़ चुके थे। ऐसे कुशल प्रशासकों में उल्लेखनीय थे —सर्वश्री धर्मवीर, बी.एन. चक्रवर्ती, वाई.एन. सुखान्तकर, विष्णुसहाय, एल.पी. सिंह, एल.के. झा, डियास, और एल.के. मेहता। पंचम्, भूतपूर्व लोकसभाध्यक्ष — सर्वश्री अनन्तशयनम् आयंगर और सरदार हुकुमसिंह ने भी राज्यपाल-पद को सुशोभित किया। षष्ठम्, इस पद पर वे लोग भी प्रतिष्ठित हुए, जिनकी देश के सार्वजनिक जीवन में विशिष्ट भूमिका रही, ऐसे व्यक्तियों में प्रसिद्ध थे — श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीप्रकाश, डॉ. जाकिर हुसैन, श्रीमन्नारायण, खण्डूभाई देसाई, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, नवाब अली यावर जंग, सरदार गुरुमुख निहाल सिंह और बी.के. नेहरू। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल-पद पर सक्रिय कांग्रेस-जन ही नियुक्त किये जाते रहे। केवल पट्टम थानु पिल्लै की नियुक्ति इसका अपवाद कही जा सकती है। लेकिन यहाँ यह भी माना जाना चाहिए कि केरल में अपने दलीय हितों को सुरक्षित रखने के लिए ही इस प्रसोपा नेता को राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया था। विपक्षी नेताओं द्वारा यह आरोप लगाया गया कि सत्तारूढ़ कांग्रेस दल ने राज्यों में अपने दलीय हितों की सुरक्षा करने और अपने व्यक्तियों को सत्ता का लाभ पहुँचाने की दृष्टि से ही इस पद को 'उपहार' में दिया है। इसी के सन्दर्भ में प्रसोपा नेता स्व. नाथ पै ने कहा था कि "नियुक्ति-सम्बन्धी मापदण्डों में केन्द्र ने इस पद का अवमूल्यन ही कर दिया।"[17]

जनता शासन में भी कोई परिवर्तन नहीं

सन् 1977 ई. की "चुनाव-क्रान्ति" ने भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। केन्द्र में पिछले तीस वर्षों से चली आ रही कांग्रेस की सत्ता समाप्त हो गई। श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार सत्तारूढ़ हुई। मूल्यों की राजनीति की वकालात करने वाले इस दल से यह अपेक्षा थी कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय वह 'योग्यता' को मापदण्ड बनायेगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जनता पार्टी के शासन काल में भी राज्यपालों की नियुक्ति में दलीय आधार को ही प्राथमिकता प्रदान की गई। जनता पार्टी की सरकार ने पार्टी के संगठन कांग्रेस घटक से सम्बन्ध रखने वाले नेताओं को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया, ये थे – सर्वश्री के. अब्राहम, सादिक अली, श्रीमती शारदा मुखर्जी, श्रीमती ज्योति वेंकटचलम्, सी.एम. पुनाचा, भगवतदयाल शर्मा, जी.डी. तपासे, रघुकुल तिलक और प्रभुदास पटवारी। इन नियुक्तियों पर जनता पार्टी के अन्य घटकों – भारतीय जनसंघ, लोकदल और सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं ने अपना क्षोभ प्रकट किया था। जनता पार्टी के सत्तारूढ़ होते ही तमिलनाडु के राज्यपाल मोहनलाल सुखाड़िया और कर्नाटक के राज्यपाल उमाशंकर दीक्षित ने राज्यपाल पद से त्याग-पत्र दे दिया। इन दोनों ही राज्यपालों पर सम्बन्धित राज्यों में विपक्षी दलों द्वारा लोकसभा चुनाव में कांग्रेस दल का खुला समर्थन करने का आरोप लगाया गया और उन्हें हटाने की माँग

की गई थी। इन राज्यों के राज्यपालों के त्याग-पत्र को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। इस प्रकार से जनता शासन काल में भी राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति के मापदण्डों में यथास्थिति बनी रही। राजस्थान के राज्यपाल रघुकुल तिलक की नियुक्ति को राजस्थान उच्च-न्यायालय में चुनौती दी गई। हरगोविन्द पन्त बनाम् रघुकुल तिलक विवाद में निर्णय देते हुए राजस्थान उच्च न्यायालय ने उनकी नियुक्ति को वैध करार दिया। इस तरह से जनता-शासन काल में भी राज्यपालों की नियुक्ति में राजनैतिक मापदण्ड अपनाये गये।

श्रीमती गाँधी की सत्ता में वापसी और राज्यपालों की नियुक्ति

सन् 1980 से 31 अक्टूबर, 1984 तक के काल को इन्दिरा गाँधी के शासन काल का द्वितीय चरण माना जा सकता है। सन् 1977 ई. के लोकसभा चुनाव में पराजित होने के बाद वे तीन वर्षों तक सत्ता से बाहर रहीं। सन् 1980 ई. के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में उनकी सत्ता में वापसी हुई। इस काल में राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आती हैं- प्रथम, उन्होंने जनता शासन काल में नियुक्त उन राज्यपालों को बर्खास्त किया, जिनकी कार्यशैली उन्हें पसंद नहीं थी। ऐसे बर्खास्त किये जाने वाले राज्यपाल थे — सर्वश्री प्रभुदास पटवारी (तमिलनाडु) और रघुकुल तिलक (राजस्थान)। स्वतंत्र भारत में राज्यपालों को बर्खास्त करने की यह पहली घटनाएँ थीं। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल त्रिभुवन नारायण सिंह को त्याग-पत्र देने के लिए विवश किया गया। द्वितीय, उन्होंने अपने मंत्रिमंडलीय सहयोगियों को भी राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया । इनमें से प्रमुख थे — सर्वश्री अनन्तप्रसाद शर्मा और भीष्मनारायण सिंह। श्री अनन्तप्रसाद शर्मा को पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया। श्री शर्मा की नियुक्ति पर अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए राज्य के मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने कहा था कि 'उनकी नियुक्ति ने हमें हैरत में डाल दिया है। इस कट्टर कांग्रेसी राज्यपाल को इसलिए पश्चिमी बंगाल पर थोपा गया है कि यहाँ की वामपंथी सरकार को सबक सिखाया जा सके।'[18] श्री भीष्मनारायण सिंह को असम का राज्यपाल बनाया गया। तृतीय, प्रमुख कांग्रेस-जनों को भी राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया। 16 फरवरी, 1980 ई. को श्री सी.पी.एन. सिंह को उत्तर-प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 20 जुलाई, 1981 ई. को कांग्रेस (इ) संसदीय बोर्ड के सचिव प्रकाश मेहरोत्रा को असम और मेघालय का राज्यपाल बनाया गया। 11 फरवरी, 1983 ई. को नागालैण्ड के भूतपूर्व मुख्यमंत्री होकिशे सेमा को हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल बनाया गया। राजस्थान के कांग्रेसी नेता अलीमुद्दीन खां को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया। श्री होमी जे.एच. तल्यार खां को सिक्किम का राज्यपाल नियुक्त किया गया। श्री शंकरदयाल शर्मा को महाराष्ट्र में राज्यपाल नियुक्त किया गया। श्री के.एम. चण्डी को गुजरात का राज्यपाल बनाया गया। श्री कोवा प्रभाकर राव की भी राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई। 15 अगस्त, 1984 ई. को पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल अनन्तप्रसाद शर्मा के अपने पद से त्याग-पत्र देने पर 24 सितम्बर, 1984 ई. को उमाशंकर दीक्षित को राज्य का नया राज्यपाल नियुक्त किया गया।[19] राजस्थान के कांग्रेसी नेता श्री रामकिशोर व्यास को उत्तरी-पूर्वी राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया गया था, लेकिन उनका बीच में ही देहावसान हो गया था। तृतीय, अनेक प्रशासकों

की भी राज्यपालों के रूप में नियुक्तियाँ की गई थीं। 21 जुलाई, 1981 ई. को भारत के गृह सचिव एस.एम.एच. बर्नी को मणिपुर और नागालैण्ड का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 21 सितम्बर, 1981 ई. को भैरवदत्त पाण्डे को पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इनके अलावा सुन्दरलाल खुराना को तमिलनाडु, बी.एन. पांडेय को उड़ीसा और एल.पी. सिंह को उत्तरी-पूर्वी राज्यों का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इस प्रकार से श्रीमती गाँधी के कार्यकाल में भी राज्यपालों की नियुक्तियाँ राजनीतिक आधार पर ही की गईं।

राजीव युग की नियुक्तियाँ

श्रीमती इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद राजीव गाँधी को भारत का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। श्री राजीव गाँधी के कार्यकाल में राज्यपालों की नियुक्ति के जो मापदण्ड रहे हैं, उन्हें निम्नानुसार रूप से विश्लेषित किया जा सकता है– प्रथम, राज्यों के प्रमुख कांग्रेस जनों को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया गया। 12 मार्च, 1985 को मध्यप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया। पंजाब की नाजुक समस्या का समाधान करने हेतु ही उनकी राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई थी। 14 नवम्बर, 1985 ई. को केन्द्रीय सरकार ने तीन राज्यपालों की नियुक्ति की घोषणा की। नये बने राज्यपालों में महाराष्ट्र के भूतपूर्व मुख्यमंत्री बसन्तदादा पाटिल भी थे, जिन्हें राजस्थान का राज्यपाल बनाया गया। राजस्थान के राज्यपाल ओ.पी. मेहरा के कार्यकाल की समाप्ति के कारण उनकी नियुक्ति की गई। बसन्तदादा पाटिल की नियुक्ति के पीछे महाराष्ट्र की राजनैतिक स्थिति जिम्मेदार रही है।[20] राज्यपाल-पद पर अपनी नियुक्ति की घोषणा पर टिप्पणी करते हुए बसन्तदादा पाटिल ने कहा था कि "पार्टी ने मुझे राज्यपाल के रूप में मेरी 'सेहत' को ध्यान में रख कर चुना है। यह एक अच्छी खबर है और मैंने खुशी-खुशी यह पद स्वीकार किया है।"[21] आन्ध्रप्रदेश के राज्यपाल शंकरदयाल शर्मा को पंजाब का राज्यपाल बनाया गया और उनके स्थान पर केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री कुमुद बेन जोशी को आन्ध्रप्रदेश का राज्यपाल बनाया गया।[22] भूतपूर्व केन्द्रीय मंत्री पी. वैंकटसुब्बया को बिहार का राज्यपाल बनाया गया। राज्यसभा में कांग्रेस (इ) के सदस्य मोहम्मद उस्मान आरिफ खां को उत्तरप्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 1 अप्रैल, 1986 ई. को पश्चिमी बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री सिद्धार्थ शंकर राय को डॉ. शंकरदयाल शर्मा के स्थान पर पंजाब का नया राज्यपाल नियुक्त किया गया। विगत तीन वर्षों में पंजाब में 6 राज्यपालों की नियुक्ति की गई। नये राज्यपाल को आठवें दशक के प्रारम्भ में पश्चिमी बंगाल में नक्सलियों से निपटने का अनुभव है।[23] राष्ट्रपति भवन से जारी विज्ञप्ति में यह कहा गया कि डॉ. शंकरदयाल शर्मा, कोना प्रभाकर राव के स्थान पर महाराष्ट्र के राज्यपाल होंगे। राव ने इसके पूर्व राज्यपाल पद से त्याग-पत्र दे दिया था। विज्ञप्ति में कहा गया कि राष्ट्रपति ने महाराष्ट्र के राज्यपाल कोना प्रभाकर राव का स्तीफा स्वीकार कर लिया है।[24] श्री राव के त्याग-पत्र को 'अंक घोटाला कांड' की पृष्ठभूमि

में ही देखा जाना चाहिए। पश्चिमी बंगाल में पूर्व केन्द्रीय मंत्री प्रोफेसर नूरूल हसन को पुनः पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

फरवरी, 1988 में भी अनेक कांग्रेस-जनों को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया गया। सर्वश्री के.ब्रह्मानन्द रेड्डी को महाराष्ट्र, गोविन्दनारायण सिंह को बिहार, सुखदेव प्रसाद को राजस्थान और श्रीमती रामदुलारी सिन्हा को केरल का राज्यपाल नियुक्त किया गया।[25] असम के प्रमुख कांग्रेसी नेता हितेश्वर सैकिया को मिजोरम का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इन सभी ने अपना कार्यभार संभाला।

19 फरवरी, 1989 को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के महासचिव जगन्नाथ पहाड़िया को बिहार का राज्यपाल नियुक्त किया गया।[26] 3 मार्च, 1989 को जगन्नाथ पहाड़िया ने बिहार के सत्रहवें राज्यपाल के रूप में शपथ ग्रहण की।[27] 28 अप्रैल, 1989 को राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमंत्री और राज्य विधानसभा के सदस्य हरिदेव जोशी को असम व मेघालय के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। श्री जोशी को भीष्मनारायण सिंह के स्थान पर राज्यपाल नियुक्त किया गया।[28] श्री सिंह ने सक्रिय राजनीति में आने के लिए राज्यपाल-पद से त्याग-पत्र दे दिया था। श्री हरिदेव जोशी को राजस्थान की सक्रिय राजनीति से दूर करने के लिए ही कांग्रेस (इ) उच्च कमान ने राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया। श्री जोशी को दल के उच्च कमान के दबाव के कारण अपने समर्थकों के नहीं चाहने के बावजूद भी राज्यपाल पद स्वीकार करना पड़ा। 4 मई, 1989 को जयपुर में श्री जोशी ने कहा कि "राज्यपाल का पद स्वीकारने के लिए मेरे साथ कोई ज्यादती नहीं की गई। मेरी मजबूरियों को देखते हुए भी देश के नेता ने जब मेरे सामने दूसरी बार यह प्रस्ताव रखा तो मुझे कर्त्तव्य की माँग और अपने विचारों के आगे झुकना पड़ा।"[29] 10 मई, 1989 को श्री जोशी ने असम के राज्यपाल के पद की शपथ ली। इसके पूर्व 9 मई, 1989 को श्री जोशी ने राज्य विधानसभा की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया था।

1 जुलाई, 1989 को भी कतिपय राज्यों में कांग्रेस (इ) के नेताओं को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। केन्द्रीय रक्षा राज्यमंत्री चिंतामणि पाणिग्रही को मणिपुर का राज्यपाल नियुक्त किया गया। हरियाणा प्रदेश कांग्रेस (इ) के पूर्व अध्यक्ष और सांसद सुल्तान सिंह को त्रिपुरा का राज्यपाल नियुक्त किया गया। पूर्व कपड़ा मंत्री खुर्शीद आलम खां को गोवा का राज्यपाल बनाया गया। उन्हें डॉ. गोपाल सिंह के स्थान पर नियुक्त किया गया।[30] 4 जुलाई, 1989 को मेघालय के पूर्व मुख्यमंत्री कैप्टन डब्ल्यू.ए. संगमा को मिजोरम का राज्यपाल नियुक्त किया गया। पूर्व विदेश राज्यमंत्री ए.ए. रहीम को मेघालय का राज्यपाल बनाया गया। श्री रहीम की नियुक्ति के साथ हरिदेव जोशी अब केवल असम के ही राज्यपाल रहेंगे।[31] इन सभी ने अपना कार्यभार ग्रहण कर लिया। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल-पद पर केन्द्रीय सरकार द्वारा अपने 'वफादारों' अथवा उन लोगों को नियुक्त किया गया, जिन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल अथवा राज्यों की सक्रिय राजनीति से अलग करना था।

द्वितीय, अच्छे प्रशासकों और सेवा-निवृत्त सेनाध्यक्षों को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया गया। गोवा के उप राज्यपाल जगमोहन को पदोन्नत करते हुए जम्मू-कश्मीर

राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया गया। देश के विपक्षी दलों ने 'इण्डियन एक्सप्रेस' विवाद में जगमोहन के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गई टिप्पणियों की पृष्ठभूमि में इस नियुक्ति को न्यायपालिका के निर्णय की अवमानना बताते हुए इसकी कटु आलोचना की। इतना ही नहीं राज्यपाल जगमोहन की नियुक्ति की आलोचना करते हुए कर्नाटक के मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े ने प्रधानमंत्री राजीव गाँधी को लिखे गये अपने पत्र में लिखा कि उन्हें दिल्ली उच्च न्यायालय ने दोषी करार दिया था, उसके बाद भी उन्हें राज्यपाल बनाया गया। 'इण्डियन एक्सप्रेस' वाले केस में उच्च न्यायालय ने कहा था –"हम वादी जगमोहन के साथ बहुत सहनशील रहे हैं। वे कथित रिट पिटीशन में प्रतिवादी नंबर दो थे। सब प्रतिवादियों की ओर से दिए गए उनके जवाब तथ्यों से बहुत दूर थे। पर हमने कोई कार्यवाही नहीं की। पुनरीक्षण याचिका को झूठी जानकारियों व आरोपों से भर कर न्याय की प्रक्रिया को रोकने का प्रयास किया था।" पैरा दस में उन्होंने अदालत पर भी बदनीयती के कई आरोप लगाए और फैसले में देरी के लिए न्यायालय को दोषी ठहराया। उन्होंने कहा कि "कई जानकारियाँ 'देयर लीडरशिप' के ध्यान में नहीं आई हैं। यह न्यायालय की अवमानना है।" जगमोहन ने यह भी कहा कि तथ्यों व स्थितियों के आधार पर मैं यह मानने को विवश हूँ,"1 मार्च, 1980 और 10 मार्च, 1980 को मुझे भेजे गए नोटिस न्याय की स्वाभाविक प्रक्रिया में नहीं थे। बल्कि वे पूरी तरह राजनैतिक प्रेरणा एवं अपमान के इरादे से भेजे गए थे।" जज से ऐसी टिप्पणियाँ पाये जाने वाले जगमोहन उस समय दिल्ली के उपराज्यपाल थे। बाद में उन्हें पदोन्नत करके जम्मू व कश्मीर का राज्यपाल बना दिया गया । यह सजा थी या इनाम?[32] श्री जगमोहन की नियुक्ति के पीछे जम्मू-कश्मीर जैसे सीमावर्ती और संवेदनशील राज्य में एक कुशल प्रशासक की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की आवश्यकता ही प्रमुख कारण बनी। दिल्ली और गोवा के उपराज्यपाल के रूप में कार्य करके उन्होंने अच्छी प्रशासनिक कुशलता का परिचय दिया था। उनकी कार्य-शैली सदैव ही विपक्षी दलों की आलोचना की शिकार बनी। इस सम्बन्ध में विवाद का दूसरा विषय था — भारत के भूतपूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त आर.के. त्रिवेदी की गुजरात के राज्यपाल के रूप में नियुक्ति। विपक्षी दलों ने इस नियुक्ति की आलोचना करते हुए कहा था कि इस तरह की नियुक्तियों से भारत के निर्वाचन आयोग की गरिमा और निष्पक्षता के आगे प्रश्न-वाचक चिह्न लग जायेंगे और इस पद का महत्त्व समाप्त हो जायेगा। 1 अप्रैल, 1986 को वायस एडमिरल (रिटायर्ड) रुस्तम खुशरो शापूरजी गाँधी को होकिशे सेमा की जगह हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया। श्री सेमा राज्यपाल-पद से त्याग-पत्र देकर नागालैण्ड से कांग्रेस (इ) के टिकिट पर राज्यसभा के सदस्य निर्वाचित हुए।[33] राज्यपाल-पद से त्याग-पत्र देकर सक्रिय राजनीति में आने की यह तीसरी घटना थी। इसके पूर्व पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल अनन्तप्रसाद शर्मा ने भी राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देकर कांग्रेस (इ) के टिकिट पर राज्यसभा की सदस्यता प्राप्त की। पंजाब के राज्यपाल अर्जुन सिंह को केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् में शामिल किया गया। फरवरी, 1988 में बी.एम. बरारी को हरियाणा का राज्यपाल नियुक्त किया गया। वे गृह मंत्रालय में खुफिया सूचना ब्यूरो के प्रमुख पद पर रहे। इंटेलीजेंस ब्यूरो के प्रधान रहे टी.वी. राजेश्वर को पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

20 फरवरी, 1989 को कतिपय राज्यों में प्रशासनिक क्षेत्र के लोगों को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया गया। प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की सचिव सरला ग्रेवाल को मध्यप्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। वहाँ नियुक्त की गई श्रीमती सरला ग्रेवाल प्रधानमंत्री के सचिव-पद से रिटायर होने वाली थीं। पूर्व रक्षा सचिव एस.के. भटनागर को सिक्किम का राज्यपाल बनाया गया। उन्होंने टी.वी. राजेश्वर राव का स्थान लिया, जिन्हें पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल बनाया गया। सभी ने अपना कार्यभार संभाल लिया।

भूतपूर्व थल सेनाध्यक्ष जनरल के.वी. कृष्णाराव को नागालैण्ड, त्रिपुरा एवं मणिपुर का राज्यपाल बनाया गया। 1 जुलाई, 1989 को उन्हें जम्मू-कश्मीर का राज्यपाल नियुक्त किया गया। उन्होंने राज्य के राज्यपाल-पद का कार्यभार संभाल लिया।

वी.पी. युग की नियुक्तियाँ

नवम्बर, 1989 में लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस (इ) को पराजय का सामना करना पड़ा। श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार अस्तित्व में आई। इसके बाद यह स्पष्ट था कि या तो कांग्रेस (इ) के शासन काल में नियुक्त राज्यपाल अपने पद से त्याग-पत्र दे देंगे, अथवा नई सरकार द्वारा उन्हें हटाये जाने के राजनीतिक प्रयत्न किये जायेंगे। इस प्रकार से कांग्रेस (इ) द्वारा नियुक्त राज्यपालों का अपने पदों पर बने रहना असंभव लग रहा था। राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार द्वारा भी राज्यपालों की निम्न रूप से नियुक्तियाँ की गई :

(1) पंजाब में निर्मलकुमार मुखर्जी की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति

श्री सिद्धार्थ शंकर राय के राज्य के राज्यपाल-पद से त्याग-पत्र देने के बाद पूर्व मंत्रिमंडलीय सचिव निर्मलकुमार मुखर्जी को राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 8 दिसम्बर, 1990 को उन्होंने राज्यपाल-पद की शपथ ग्रहण की।

(2) जम्मू-कश्मीर में जगमोहन की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति

18 जनवरी, 1990 को राष्ट्रपति भवन की एक विज्ञप्ति के अनुसार जम्मू-कश्मीर में जगमोहन को राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति ने विवाद खड़ा किया। तत्कालीन मख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने कहा कि राज्यपाल की नियुक्ति उनकी इच्छा के 'खिलाफ' की गई है। उन्होंने उसी दिन राज्यपाल की नियुक्ति के विरुद्ध अपने मंत्रिमंडल का त्यागपत्र दे दिया। 19 जनवरी से राज्य में राज्यपाल शासन लागू कर दिया गया। देश में यह पहला अवसर था कि जबकि किसी राज्यपाल की नियुक्ति के विरोध में किसी मुख्यमंत्री ने त्यागपत्र दिया हो।

श्री जगमोहन को राज्यपाल बनाने के निर्णय की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। भारतीय जनता पार्टी और जम्मू-कश्मीर की पैंथर्स पार्टी ने उनकी नियुक्ति का स्वागत करते हुए कहा कि इससे जम्मू-कश्मीर में शांति व्यवस्था को कायम करने में सहायता मिलेगी।

इसके विपरीत कांग्रेस (इ) और वामपंथी दलों ने जगमोहन की नियुक्ति के निर्णय की कड़े शब्दों में अलोचना की। कांग्रेस (इ) की प्रतिक्रिया का अन्दाज तो इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसके नेता राजीव गाँधी की अनुमति के बाद ही जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया था। कांग्रेस (इ) ने इस नियुक्ति की तीव्र आलोचना की।

वामपंथी दलों ने इस नियुक्ति को 'दुर्भाग्यपूर्ण' बताते हुए इसके विरोध में एक बयान जारी किया। 20 जनवरी, 1990 को नई दिल्ली में मार्क्सवादी साम्यवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, और फारवर्ड ब्लॉक की बैठक के बाद जारी किये गये बयान में यह स्पष्ट किया गया कि डॉ. फारूख अब्दुल्ला द्वारा यह स्पष्ट किये जाने के बावजूद यह नियुक्ति की गई कि जगमोहन के साथ काम करना उनके लिए संभव नहीं होगा। उन्होंने इस दलील को सरकारिया आयोग की सिफारिशों की भावनाओं के विरुद्ध बताया कि सलाह-मशविरे का मतलब सहमति नहीं होता है।

बयान में कहा गया कि उन्हें राष्ट्रीय मोर्चा सरकार से अपेक्षा थी कि वह कांग्रेस (इ) की तरह गलतियाँ नहीं करेगी और राज्यपालों की नियुक्तियों में स्वस्थ परम्परा कायम करेगी, लेकिन जम्मू कश्मीर के मामले में इसके विपरीत हुआ है......। बयान में कहा गया है कि सरकार ने जम्मू-कश्मीर में सामान्य स्थिति बहाल करने में सत्तारूढ़ नेशनल कांफ्रेंस के महत्त्व को भुला दिया और विवादास्पद व्यक्ति जगमोहन को नियुक्त कर दिया। श्री जगमोहन ने ही जी.एम. शाह की अल्पमत सरकार को बनाए रखने के लिए कांग्रेस (इ) के हथियार (टूल) के रूप में काम किया था। बैठक में मार्क्सवादी साम्यवादी दल के हरकिशन सिंह सुरजीत, भारतीय साम्यवादी दल के इन्द्रजीत गुप्ता और एम. फारूकी, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी के त्रिदिब चौधरी और फारवर्ड ब्लॉक के डी.डी. शास्त्री शामिल थे।[34] इस प्रकार से जगमोहन की नियुक्ति व्यापक विवाद का विषय बनी।

(3) व्यापक स्तर पर नियुक्तियाँ

1 फरवरी, 1990 को राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण ने 13 नए राज्यपालों और एक केन्द्र शासित प्रदेश के उपराज्यपाल की नियुक्ति की। स्वतंत्रता के बाद संभवतः यह पहला अवसर था, जबकि इतने व्यापक स्तर पर राज्यपालों की नियुक्तियाँ की गई थीं। विभिन्न राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए नियुक्त राज्यपालों एवं उपराज्यपालों की सूची इस प्रकार थी —

(1) राजस्थान —श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

(2) हरियाणा —श्री धनिकलाल मंडल

(3) आन्ध्रप्रदेश —श्री कृष्णकांत

(4) केरल —डॉ. स्वरूप सिंह

(5) मिजोरम —श्री स्वराज कौशल

(6) बिहार —श्री युनूस सलीम

(7) उड़ीसा —श्री यज्ञदत्त शर्मा

(8) महाराष्ट्र —श्री सी. सुब्रह्मण्यम्

(9) हिमाचलप्रदेश —बी. रचैया

(10) पश्चिमी बंगाल —प्रो. नूरूल हसन

(11) मध्यप्रदेश —श्री महमूद अली

(12) उत्तरप्रदेश —श्री बी. सत्यनारायण रेड्डी

(13) त्रिपुरा —श्री रघुनाथ रेड्डी

(14) सिक्किम —वायस एडमिरल (सेवा-निवृत्त) आर.एच. टहलियानी

उपर्युक्त में से केवल उड़ीसा के राज्यपाल नूरूल हसन का स्थानान्तरण उड़ीसा से पश्चिमी बंगाल कर दिया गया। पांडिचेरी के उपराज्यपाल लेफ्टिनेन्ट जनरल (सेवा-निवृत्त) आर.एस. दयाल का स्थानान्तरण पांडिचेरी से अण्डमान-निकोबार कर दिया गया था।

राज्यपालों की इन नियुक्तियों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें भी राजनीतिक मापदण्ड अपनाये गये। श्री धनिकलाल मंडल, कृष्णकांत, युनूस सलीम, बी. रचैया, महमूद अली, रघुनाथ रेड्डी, यज्ञदत्त शर्मा, बी. सत्यनारायण रेड्डी अनेक वर्षों तक गैर कांग्रेसी राजनीति से जुड़े रहे। श्री स्वराज कौशल प्रसिद्ध अधिवक्ता और हरियाणा में भारतीय जनता पार्टी की नेता सुषमा स्वराज के पति हैं। डॉ. स्वरूप सिंह जाने-माने शिक्षाविद् के साथ-साथ स्व. चरण सिंह के रिश्तेदार भी हैं। कांग्रेस (इ) की सदस्यता से त्याग-पत्र देने वाले प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय को राजस्थान का राज्यपाल बनाया गया। अनेक वर्षों से सक्रिय राजनीति से दूर रहने वाले भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष सी. सुब्रह्मण्यम् को महाराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया गया।[35]

(4) पाँच और राज्यपालों की नियुक्ति

26 अप्रैल, 1990 को राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण ने पाँच नये राज्यपालों की नियुक्ति की। सर्वश्री डी.डी. ठाकुर को असम, महिपाल शास्त्री को गुजरात, भानुप्रताप सिंह को कर्नाटक, एम.एम. थामस को नागालैण्ड (अरुणाचल प्रदेश का अतिरिक्त कार्यभार) तथा मधुकर दिघे को मेघालय का राज्यपाल नियुक्त किया गया।[36] ये सभी नेता भी लम्बे समय तक गैर कांग्रेसी राजनीति से जुड़े रहे।

(5) जम्मू-कश्मीर में जगमोहन के स्थान पर गिरीश सक्सेना की नियुक्ति

25 मई, 1990 को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन द्वारा त्यागपत्र देने पर प्रधानमंत्री के सुरक्षा सलाहकार गिरीशचन्द्र सक्सेना को नियुक्त किया गया। उन्होंने राज्य के राज्यपाल का कार्यभार संभाल लिया।

(6) तमिलनाडु में बरनाला की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति

22 मई, 1990 को राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण ने पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री और अकाली दल (लोगोंवाल) के नेता सुरजीत सिंह बरनाला को तमिलनाडु का राज्यपाल नियुक्त किया। श्री बरनाला ने राज्यपाल-पद का कार्यभार ग्रहण कर लिया।

(7) पंजाब में वीरेन्द्र वर्मा की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति

1 जून, 1990 को राज्यपाल निर्मलकुमार मुखर्जी ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। बाद में अनेक लोगों को यह पद संभालने का प्रस्ताव रखा गया, लेकिन उन्होंने इसे स्वीकार करने में रुचि प्रदर्शित नहीं की। अन्त में, श्री वीरेन्द्र वर्मा को राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया गया। श्री वर्मा एक समय लोकदल की राजनीति में चौधरी चरण सिंह के घनिष्ठतम सहयोगी थे।

शेखर युग की नियुक्तियाँ

7 नवम्बर, 1990 को लोकसभा में विश्वास मत प्राप्त करने पर असफल रहने पर प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद कांग्रेस (इ) के समर्थन से वरिष्ठ जनता दल के नेता चन्द्रशेखर को प्रधानमंत्री-पद की शपथ दिलाई गई। 16 नवम्बर, 1990 को चन्द्रशेखर ने लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त किया।

14 दिसम्बर, 1990 को चन्द्रशेखर मंत्रिमंडल द्वारा चार राज्यों एवं दो केन्द्र शासित प्रदेशों में नए राज्यपाल और उपराज्यपाल नियुक्त किये गये। इसके अन्तर्गत पंजाब में वीरेन्द्र वर्मा के स्थान पर भूतपूर्व थल सेनाध्यक्ष जनरल ओ.पी. मल्होत्रा को राज्यपाल बनाया गया। श्री वीरेन्द्र वर्मा को हिमाचल प्रदेश में स्थानान्तरित किया गया। हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल वासवैय्या रचैय्या का स्थानान्तरण केरल कर दिया गया। राष्ट्रपति भवन की विज्ञप्ति के अनुसार गुजरात के राज्यपाल महिपाल शास्त्री का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया गया। उनके स्थान पर केरल के राज्यपाल डॉ. स्वरूप सिंह को राज्य का नया राज्यपाल नियुक्त किया गया। मेघालय में शरद दिघे को राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया।

राव युग की नियुक्तियाँ

जून, 1991 में पी.वी. नरसिंहराव के नेतृत्व में केन्द्र में कांग्रेस (इ) की सरकार सत्तारूढ़ हुई। उनके कार्यकाल में भी अनेक राज्यों में नये राज्यपालों की नियुक्तियाँ की गईं। जून, 1991 ई. में पंजाब विधानसभा के चुनावों के अचानक स्थगित किये जाने के कारण राज्यपाल जनरल ओ.पी. मल्होत्रा ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर सुरेन्द्रनाथ को नये राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। राजस्थान के राज्यपाल प्रो. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के त्यागपत्र के बाद अन्तरिम व्यवस्था के लिए गुजरात के राज्यपाल डॉ. स्वरूप सिंह को राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। बाद

में आन्ध्र-प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री एम. चेन्ना रेड्डी को राजस्थान का राज्यपाल नियुक्त किया गया। 8 जनवरी, 1993 को महाराष्ट्र में सी. सुब्रह्मण्यम् के स्थान पर पी.सी. अलेक्जेण्डर को नया राज्यपाल नियुक्त किया गया। 12 जनवरी को उन्होंने प्रदेश के नये राज्यपाल के रूप में शपथ ग्रहण की। 5 फरवरी, 1993 को हिमाचल प्रदेश में पूर्व विदेश-मंत्री बलिराम भगत तथा पी.आर. किर्डिया को मिजोरम का राज्यपाल बनाया गया। दोनों ने अपना कार्यभार संभाल लिया। 11 मार्च, 1993 को पूर्व सेनाध्यक्ष जनरल के.वी. कृष्णाराव को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। 12 मार्च को उन्होंने राज्य के राज्यपाल के रूप में शपथ ली।

23 मई, 1993 ई. को राष्ट्रपति ने राज्यपाल के पदों में महत्त्वपूर्ण फेरबदल करते हुए मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री मोतीलाल वोरा को उत्तरप्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया, जबकि डॉ. एम.चेन्ना रेड्डी को राजस्थान से तमिलनाडु स्थानांतरित करने का निर्णय लिया। उत्तरप्रदेश के राज्यपाल बी. सत्यनारायण रेड्डी को उड़ीसा के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरित किया गया। तमिलनाडु के राज्यपाल भीष्मनारायण सिंह का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया गया। हरियाणा के राज्यपाल धनिकलाल मंडल को राजस्थान का अतिरिक्त कार्यभार सौंपा गया। इसके बाद राज्यपालों में परिवर्तन हुआ। श्री गुलशेर अहमद को हिमाचलप्रदेश का राज्यपाल बनाया गया। हिमाचलप्रदेश के राज्यपाल बलिराम भगत को राजस्थान और राजस्थान के राज्यपाल डॉ. चेन्नारेड्डी को तमिलनाडु के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरित किया गया। श्री रोमेश भण्डारी को त्रिपुरा का राज्यपाल बनाया गया।

मुख्य प्रवृत्तियाँ

स्वतंत्रता से लेकर वर्तमान तक राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी मापदण्डों और प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं– प्रथम, राज्यपालों की नियुक्ति की प्रक्रिया के कारण केन्द्रीय सरकार का उन पर पूर्ण रूप से वर्चस्व और नियंत्रण बना रहता है। फलस्वरूप व्यवहार में राज्यपालों की "राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष" की भूमिका गौण बन जाती है और उसके स्थान पर वे "केन्द्रीय प्रतिनिधि" की भूमिका का ही सक्रिय रूप से निर्वाह करते हैं। नियुक्ति की इस पद्धति के कारण ही कोई भी राज्यपाल अपनी राज्य सरकार का पूर्ण साथ देकर केन्द्रीय-सरकार को नाराज नहीं करना चाहता है। अनेक उदाहरणों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों ने केन्द्रीय-सरकारों के प्रति अपनी पूर्ण वफादारी और समर्पण भावना का परिचय दिया है। स्वतंत्रता से लेकर वर्तमान तक एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जब किसी राज्यपाल ने किसी भी मामले में केन्द्रीय सरकार से खुलकर टक्कर लेने की हिम्मत की हो। अनेक बार तो राज्यपालों ने केन्द्र सरकार के प्रति विरोध प्रदर्शित करने के लिए अपने पद से त्यागपत्र देने तक ही अपने विरोध को सीमित रखा है। द्वितीय, संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल-पद पर उच्च कोटि के व्यक्तियों की नियुक्ति करने की अपेक्षा की थी, लेकिन दलगत-राजनीति से की जाने वाली नियुक्तियों के कारण यह भावना आंशिक रूप से ही साकार हुई है। तृतीय, जब तक केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस दल की सरकारें सत्तारूढ़ हुईं, तब तक राज्यपालों

की नियुक्ति-सम्बन्धी यह विवाद मुखरित नहीं हुआ। सन् 1967 ई. में अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही यह पद आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बन गया। बिहार और बंगाल की गैर कांग्रेसी सरकारों और केन्द्र की कांग्रेसी सरकार के बीच खुले संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हुई थी। चतुर्थ, राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में जो भी विवाद उपस्थित हुए उनका सम्बन्ध संवैधानिक अधिक नहीं होकर 'राजनीतिक' रहा है। अगर समय-समय पर नियुक्ति सम्बन्धी सही मापदण्ड निर्धारित किये गये होते तो इस विवाद का पटाक्षेप ही हो जाता। न केवल केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी दलों की सरकारों ने इस पद का राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया, अपितु राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने भी राजनीति से ही प्रेरित होकर राज्यपालों की नियुक्ति का विरोध किया। इस विरोध के पीछे किसी भी 'आदर्श राजनीति' की भावना का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। पंचम, समय-समय पर उठने वाले विवादों के परिप्रेक्ष्य में इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है कि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय स्पष्ट मापदण्डों का सहारा लिया जाये, ताकि इस संस्था को विवादों से बचाया जा सके।

नियुक्ति सम्बन्धी सुझाव

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में अनेक संविधान विशेषज्ञों, टीकाकारों और चिन्तकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ स्व. नाथ पाई का विचार था कि राज्यपाल की नियुक्ति संसद की सहमति से की जानी चाहिए।[37] संसद सदस्य स्व. प्रकाशवीर शास्त्री का सुझाव था कि राष्ट्रपति को केन्द्रीय सरकार द्वारा विपक्ष के परामर्श से तैयार किये गये "पैनल"(Panel) में से ही राज्यपालों की नियुक्ति करनी चाहिए।[38] संसद के वरिष्ठतम सदस्य स्व. भूपेश गुप्त का विचार था कि राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत "पैनल" के नामों में से ही राष्ट्रपति को राज्यपाल की नियुक्ति करनी चाहिए।[39] संसद में भारतीय जनसंघ के तत्कालीन नेता अटलबिहारी वाजपेयी का मत था कि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय राज्य के मुख्यमंत्री के समक्ष नामों का "पैनल" प्रस्तावित किया जाना चाहिए।[40] मार्क्सवादी नेता ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद के मत में राज्यपाल का सीधे जनता द्वारा निर्वाचन किया जाना चाहिए।[41] लोकसभा में संगठन कांग्रेस और मान्यता प्राप्त प्रथम विपक्षी नेता डॉ. रामसुभग सिंह के मत में राष्ट्रपति द्वारा निष्पक्ष सलाहकारों के परामर्श के बाद ही राज्यपाल की नियुक्ति की जानी चाहिए।[42] राज्यपाल-पद की गरिमा को अक्षुण्ण रखने के लिए उसकी नियुक्ति के सम्बन्ध में सही मापदण्ड अपनाने हेतु सुझाव देते हुए संविधान सभा के अत्यन्त सक्रिय सदस्य प्रो. शिब्बनलाल सक्सेना ने संविधान सभा में कहा था कि "जब हम अपने संविधान को ब्रिटिश संविधान के प्रतिरूप पर ढ़ाल रहे हैं, तो हमें राष्ट्रपति और राज्यपालों को वही गौरवपूर्ण स्थिति प्रदान करनी चाहिए, जो ब्रिटेन में सम्राट को प्राप्त है। मेरे विचार में अगर राज्यपाल राष्ट्रपति का मनोनीत प्रतिनिधि है तो वह उस स्थिति का उपयोग नहीं कर सकता है। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार पर आधारित राज्यपाल ही ब्रिटिश सम्राट की सी गरिमा प्राप्त कर सकता है।"[43] राजमन्नार समिति ने अपने प्रतिवेदन में राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में सिफारिशें करते हुए

कहा है कि "राज्यपाल की नियुक्ति को अंतिम रूप देने से पूर्व केन्द्रीय सरकार को सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करने की परम्परा को जारी रखना चाहिए। राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् में उचित और अपेक्षित सम्बन्धों के विकास की दिशा में इस प्रकार की परम्परा का पालन करना आवश्यक है... संविधान में ऐसी व्यवस्था की जाये कि राष्ट्रपति राज्यपालों की नियुक्ति प्रख्यात न्यायविदों, वकीलों और प्रशासकों की समिति की सलाह पर करें।"[44] संविधान में प्रदत्त शक्तियों का राज्यपालों द्वारा सही रूप में प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि केवल अच्छे लोग ही इस पद पर नियुक्त किये जायें। एक राज्यपाल को निष्पक्ष व्यक्ति होना चाहिए, जो अपनी योग्यता, चरित्र और व्यवहार से सम्मान प्राप्त कर सके। अपयशी (Discredited), पराजित (Defeated) और तिरस्कृत राजनेताओं (Burnt out Politicians) को राज्यपालों के रूप में नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए।[45]

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में सरकारिया आयोग का मत

सरकारिया आयोग ने भी राज्यपाल पद की नियुक्ति के बारे में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं, जिन्हें निम्नानुसार रूप से रखा जा सकता है — प्रथम, केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के अलावा किसी दूसरी पार्टी द्वारा शासित राज्य में केन्द्र वाली पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त नहीं करना चाहिए। द्वितीय, आयोग का सुझाव है कि संविधान के बारे में राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह मशविरे की व्यवस्था होनी चाहिए। तृतीय, राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यता के बारे में आयोग ने कहा है कि उसे किसी क्षेत्र में जानी-मानी हस्ती होना चाहिए। चतुर्थ, जिस प्रदेश में राज्यपाल नियुक्त हो रहा है, वहाँ का नहीं होना चाहिए और उसे तटस्थ होना चाहिए। पंचम्, राज्यपाल एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिसने राजनीति में सक्रिय भाग — और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग — नहीं लिया हो।[46]

31 मार्च, 1989 को केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में सरकारिया आयोग के प्रतिवेदन पर लोकसभा में राज्यपालों की भूमिका पर व्यापक चर्चा हुई। राज्यपालों की नियुक्ति के प्रश्न पर सत्तारूढ़ कांग्रेस (इ) और विपक्षी सदस्यों के बीच भारी मतभेद उभरे। कांग्रेस (इ) सदस्यों की राय थी कि राज्यपालों की नियुक्ति के पूर्व सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों से सलाह मशविरा करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन दूसरी ओर विपक्षी सदस्यों कहना था कि राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में मुख्यमंत्रियों से परामर्श के अलावा उनके आचरण पर भी चर्चा की व्यवस्था होनी चाहिए।[47] सरकारिया आयोग के प्रतिवेदन के आने के बाद भी इस सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत सहमति नहीं बन सकी है।

राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न इस पद की उपयोगिता और गौरव के साथ जुड़ा हुआ है। अतः इस पद पर ऐसे ही व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए जो स्वयं अपने आपको इस पद के अनुरूप समझें। इस पद को गौरव प्रदान करने के लिए उनकी नियुक्ति सम्बन्धी निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं — प्रथम, राज्यपाल-पद पर नियुक्ति के सम्बन्ध में 'मेरिट-व्यवस्था' को अपनाते हुए ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की

जानी चाहिए जो सार्वजनिक जीवन में अपना सुविख्यात व्यक्तित्व रखते हों, और जिनके आचरण अनुकरणीय हों। ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति का निर्णय करते समय दलगत राजनीति से ऊपर उठकर निर्णय लिए जाने चाहिएँ। द्वितीय, राज्यपाल-पद पर पराजित केन्द्रीय और राज्य मंत्रिमंडलों के सदस्यों, पद निवृत्त लोकसभाध्यक्ष, निवृत्तमान विधानसभाध्यक्षों, और भ्रष्टाचार के आरोपों से युक्त व्यक्तियों की नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए। तृतीय, जहाँ तक संभव हो सके, राज्यपाल की नियुक्ति करते समय न केवल सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श लिया जाये, अपितु उसकी इच्छानुसार नियुक्ति करने अथवा उसको मान्य होने वाली नियुक्ति होनी चाहिए। इससे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में अनावश्यक विवाद की स्थिति उपस्थित नहीं होगी। चतुर्थ, इस पद पर न तो ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिए जो अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों से आगे बढ़कर कार्य करने की इच्छा रखते हों, और न ही ऐसे व्यक्तियों को 'पुरस्कृत' करना चाहिए, जो इस पद की गरिमा के अनुरूप सिद्ध नहीं हो सकें। पंचम्, राज्य में राज्यपाल-पद पर बाहरी राज्य के व्यक्ति की ही नियुक्ति की जानी चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल संस्था की नियुक्ति का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है, अतः बहुत ही सोच-समझकर के ही इस पद पर लोगों की नियुक्ति की जानी चाहिए। दलगत राजनीति से ऊपर उठकर ही इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

संदर्भ

1. पाण्डे, लल्लन बिहारी, दि स्टेट एक्जीक्यूटिव, (अमर प्रकाशन, दिल्ली, 1984) पृष्ठ 46
2. दरड़ा, रणजीतसिंह एवं जैन, धर्मचन्द; राज्यपाल की नियुक्ति : अलोचना का नया तूफान, लोकतंत्र समीक्षा, वर्ष 5, अंक 1, जनवरी-मार्च, 1973 (सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली) पृष्ठ 84
3. दहिया, एम.एस.; ऑफिस ऑफ दी गवर्नर इन इण्डिया (ए क्रिटिकल कमेन्टरी), (संदीप प्रकाशन दिल्ली, 1979) पृष्ठ 34
4. ट्रिब्यून, चण्डीगढ़, अगस्त 19, 1967
5. दहिया, एम.एस. उपर्युक्त, एवं ट्रिब्यून, चण्डीगढ़, उपर्युक्त।
6. गहलोत, डॉ. एन.एस.; दि ऑफिस ऑफ दी गवर्नर : इट्स कान्स्टीट्यूशनल इमेज एण्ड रियलिटी, (चुग पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1977) पृष्ठ 34
7. दरड़ा, रणजीतसिंह एवं जैन, धर्मचन्द; उपर्युक्त, पृष्ठ 85
8. स्टेट्समैन, नई दिल्ली, नवम्बर 10, 1967
9. तत्रैव।
10. लोकसभा वाद-विवाद, भाग-9, 1967, कालम 1776-77
11. लोकसभा वाद-विवाद, भाग-11, 1967 कालम 800
12. काश्यप, डॉ. सुभाष; दलबदल और राज्यों की राजनीति, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ. 1970) पृष्ठ 377
13. गहलोत, डॉ. एन.एस., उपर्युक्त, पृष्ठ 35
14. सिवाच, डॉ. जे.आर.; डायनैमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स: (स्टर्लिंग पब्लिशर्स: नई दिल्ली, 1985) पृष्ठ 124
15. राजस्थान पत्रिका, जयपुर, मई 7, 1989, पृष्ठ 1

16. संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 8, पृष्ठ 432
17. लोकसभा वाद-विवाद, भाग 1, 1967, कालम 2792
18. दिनमान, 1-7 जुलाई, 1984, पृष्ठ 22
19. संसदीय पत्रिका, खंड 30, अंक 4, दिसम्बर, 1984 (लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली) पृष्ठ 44
20. जनसत्ता, नई दिल्ली, नवम्बर 16, 1985, पृष्ठ 1
21. तत्रैव, पृष्ठ 3
22. तत्रैव।
23. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, अप्रैल 3, 1986, पृष्ठ 1
24. तत्रैव।
25. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, मई 7, 1989, पृष्ठ 4
26. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, फरवरी 16, 1988, पृष्ठ 1
27. हिन्दुस्तान दैनिक, नई दिल्ली, फरवरी 20, 1989
28. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, अप्रैल 29, 1989
29. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, मई 5, 1989
30. दि इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली, जुलाई 2, 1989
31. नवभारत टाइम्स, जयपुर, जुलाई 5, 1989
32. हेगड़े, रामकृष्ण; 'राजीवजी आपसे यह उम्मीद नही थी', जनसत्ता, नई दिल्ली, अप्रैल 22, 1986, पृष्ठ 5
33. राजस्थान पत्रिका, जयपुर, अप्रैल 2, 1986, पृष्ठ 1
34. तत्रैव, जनवरी 21, 1990, पृष्ठ 1
35. तत्रैव, फरवरी 2, 1990, पृष्ठ 10
36. तत्रैव, अप्रैल 27, 1990, पृष्ठ 1
37. लोकसभा वाद-विवाद, भाग 2, 1967, कालम, 2793
38. पाण्डे, लल्लन बिहारी,उपर्युक्त, पृ 58
39. तत्रैव, पृष्ठ, 59
40. स्टेट्समैन, नई दिल्ली, नवम्बर 17, 1967
41. स्टेट्समैन, नई दिल्ली, मार्च 23, 1969
42. इण्डियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली, नवम्बर 30, 1970
43. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 9, पृष्ठ 450
44. राजमन्नार, पी.टी., तमिलनाडु, दि सैन्टर-स्टेट रिलेशन्स इन्क्वारी कमेटी; डायरेक्टर ऑफ स्टेशनरी एण्ड प्रिन्टर्स, मद्रास, 1971, पृष्ठ 120
45. चन्द्रपाल, डॉ.; स्टेट ऑटोनोमी इन इण्डियन फेडरेशन, (दीप एण्ड दीप पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1984) पृष्ठ, 162
46. नवभारत टाइम्स, जयपुर, फरवरी 5, 1988, पृष्ठ 10
47. राजस्थान पत्रिका, जयपुर, अप्रैल 1, 1989, पृष्ठ 1

अध्याय - 13

अपदस्थगी की राजनीति

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा पाँच वर्ष के लिए की जाती है। लेकिन संविधान के अनुच्छेद 136 के अनुसार वह राष्ट्रपति की 'इच्छापर्यन्त' तक ही अपने पद पर बना रह सकता है। राष्ट्रपति उसे उसके कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व ही बर्खास्त कर सकता है, अथवा त्यागपत्र देनें के 'निर्देश' दे सकता है। इस प्रकार से राज्यपाल को हटाने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को असीम शक्तियाँ प्राप्त हैं।

व्यवहारिक दृष्टि में, केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने के साथ ही राज्यपालों की स्थिति में भी परिवर्तन आ जाता है। पूर्व सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपाल नई सरकार के संकेत को समझकर स्वतः ही त्यागपत्र देते हैं, या उनके सामने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं कि उनके सम्मुख त्यागपत्र देकर पद-त्यागने के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं रहता है। सन् 1977, 1980 और 1989 में केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होने के बाद अनेक राज्यों में राज्यपालों ने स्वतः ही राष्ट्रपति को त्यागपत्र प्रेषित कर दिये थे।

समय-समय पर राज्यपालों को अपदस्थ करने अथवा हटाये जाने के लिए जिन साधनों का सहारा लिया गया, उन्हें निम्नानुसार रूप से विश्लेषित किया जा सकता है :

(1) राज्यपालों की बर्खास्तगी

भारतीय संविधान के लागू होने से लेकर सन् 1981 ई. तक किसी भी राज्यपाल को बर्खास्त किए जाने की घटना घटित नहीं हुई। सबसे पहले तमिलनाडु के राज्यपाल प्रभुदास पटवारी को बर्खास्त किया गया। 26 अक्तूबर, 1980 ई. को तमिलनाडु के राज्यपाल प्रभुदास पटवारी द्वारा राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देने से इन्कार कर देने पर राष्ट्रपति द्वारा उन्हें बर्खास्त किया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री पटवारी को बर्खास्त किये जाने से मुख्यमंत्री एम.जी. रामचन्द्रन भी अनभिज्ञ थे। राजस्थान में भी यही इतिहास दोहराया गया। राज्य के राज्यपाल रघुकुल तिलक को केन्द्रीय सरकार द्वारा उनकी अस्वस्थता को देखते हुए त्यागपत्र देने की सलाह दी गई, जिसे राज्यपाल द्वारा अस्वीकार

कर दिया गया। 8 अगस्त, 1981 को राष्ट्रपति द्वारा उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। बर्खास्त राज्यपाल ने केन्द्रीय निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। सर्वोच्च न्यायालय ने उनकी याचिका को रद्द करते हुए केन्द्रीय सरकार के निर्णय को वैध करार दिया। देश के सभी गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों ने दोनों ही राज्यपालों को बर्खास्त किये जाने के केन्द्रीय सरकार के निर्णय की कटु शब्दों में भर्त्सना की। उनका आरोप था कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकार ने राज्यपालों को इसलिए बर्खास्त किया क्योंकि वे जनता शासन काल में नियुक्त किये गये थे, और उन्होंने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देने की केन्द्रीय सरकार की सलाह को अस्वीकार कर दिया था। इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या केन्द्र में सरकार के परिवर्तन होने के साथ ही राज्यपालों को अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या नई सरकार को पूर्व सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों को त्यागपत्र देने के लिए विवश करना चाहिए, अथवा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देनी चाहिए कि उनके सामने त्यागपत्र देने के अलावा और कोई विकल्प ही शेष नहीं रह जाये? तीसरे, क्या केन्द्रीय सरकार को इतना असहिष्णु बन जाना चाहिए कि उसे राज्यपालों को उनका कार्यकाल समाप्त हुए बिना ही नितान्त राजनीतिक आधार पर उन्हें बर्खास्त करने का निर्णय लेना चाहिए। उपर्युक्त दोनों ही मामलों में केन्द्रीय सरकार द्वारा मात्र राजनीतिक आधार पर राज्यपालों को बर्खास्त किये जाने का निर्णय लिया गया।

नागालैण्ड के राज्यपाल एम.एम. थॉमस की बर्खास्तगी

11 अप्रैल, 1992 को राष्ट्रपति भवन से जारी एक विज्ञप्ति के अनुसार राष्ट्रपति रामास्वामी वैंकटरमण ने राज्यपाल एम.एम. थॉमस को पद छोड़ने का निर्देश दिया। विज्ञप्ति में कहा गया कि असम के राज्यपाल लोकनाथ मिश्र को थॉमस के उत्तराधिकारी की नियुक्ति तक नागालैण्ड के राज्यपाल-पद का अतिरिक्त कार्य संभालने को कहा गया।[1] राज्यपाल की इस बर्खास्तगी के पीछे राज्यपाल द्वारा केन्द्र सरकार से परामर्श किये बिना ही मुख्यमंत्री वामुजो के परामर्श पर राज्य विधानसभा को भंग करने और उन्हें 'कामचलाऊ मुख्यमंत्री' के रूप में कार्य करने देने के निर्णय को माना गया। इससे नागालैण्ड के प्रादेशिक कांग्रेसी नेता राज्यपाल के निर्णय से क्षुब्ध थे, जिसकी परिणति राज्यपाल की बर्खास्तगी के रूप में हुई। जनता दल, और भूतपूर्व मुख्यमंत्री वामुजो ने राज्यपाल की बर्खास्तगी की कटु आलोचना की। निस्संदेह, राज्यपाल की यह बर्खास्तगी अपूर्व, असामान्य और असाधारण थी।

(2) राज्यपालों को त्यागपत्र देने के लिए विवश किया जाना

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण गिनाये जा सकते हैं– प्रथम, पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री त्रिभुवन नारायण सिंह के साथ ऐसा ही हुआ। केन्द्रीय सरकार के दबाव के कारण ही उन्हें त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। 25 अगस्त, 1981 ई. को उन्होंने राज्य के राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। वाराणसी में अपने एक वक्तव्य

में श्री त्रिभुवन नारायण सिंह ने उस घटनाक्रम का ब्यौरा दिया, जिसके अन्तर्गत उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ा। 11 जुलाई, 1981 में भूतपूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री के पुत्र हरिकृष्ण शास्त्री ने राज्यपाल से कहा कि उन्हें स्वेच्छा से त्यागपत्र दे देना चाहिए, अन्यथा उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जायेगा, जैसाकि प्रभुदास पटवारी के साथ किया गया। श्री शास्त्री यह संदेश प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के निजी सहायक आर.के. धवन की ओर से लाये थे और इसके पीछे प्रधानमंत्री की भी सहमति थी। बाद में श्री सिंह ने अपना त्यागपत्र सरकार को भेजा। यद्यपि इसके पहले कई बार श्रीमती गाँधी से उनकी मुलाकात हुई थी, मगर किसी भी अवसर पर प्रधानमंत्री ने उन्हें पद-त्याग करने का कोई इशारा नहीं किया था। इसी बीच गृहमंत्री जैलसिंह ने राज्यपाल के साथ टेलीफोन पर बातचीत की। श्री जैलसिंह ने कहा 'आपका त्यागपत्र हमें नामंजूर है। आप राजस्थान के राज्यपाल हो जाइये।' मगर श्री त्रिभुवन नारायण सिंह ने इस पेशकश को तुरन्त स्वीकार नहीं किया। मगर अंतिम रूप से अपना फैसला कुछ दिन बाद देने की बात कही, क्योंकि उनकी पोती का एक गंभीर आपरेशन होने वाला था। मगर राज्यपाल के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही नई दिल्ली के अखबारों में यह प्रकाशित कराया गया कि उनके त्यागपत्र पर इसलिए फैसला नहीं किया गया क्योंकि अपनी पोती के आपरेशन के कारण उन्होंने इसे स्थगित करने की प्रार्थना की थी। भूतपूर्व राज्यपाल के अनुसार उन्होंने ऐसा कोई अनुरोध नहीं किया। इसके विपरीत उन्होंने राष्ट्रपति को एक पत्र लिखकर यह सूचित किया था कि अमुक तारीख को वह अपना पद छोड़कर बनारस चले जायेंगे, चाहे तब तक त्यागपत्र मंजूर हो अथवा नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार ने तुरन्त पश्चिमी बंगाल के लिए नये राज्यपाल की नियुक्ति कर दी। मगर विचित्र बात तो यह थी कि इसकी सूचना त्रिभुवन नारायण सिंह को न देकर मुख्यमंत्री को दी गयी। इसके पश्चात्, 12 सितम्बर, 1981 ई. को नव-नियुक्त राज्यपाल भैरवदत्त पांडे को पूर्व राज्यपाल द्वारा राजभवन खाली करने के पाँच घंटे पहले ही शपथ दिलवायी। फलस्वरूप त्रिभुवन नारायण सिंह को पाँच घंटे पहले जल्दी में राजनिवास खाली कर के रामतीर्थ आश्रम के मेहमान-खाने में शरण लेनी पड़ी।[2] इस विश्लेषण से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि श्री सिंह को भी जनता शासन काल में नियुक्त होने के कारण उन्हें अपने पद से हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। श्री सिंह और ज्योति बसु के नेतृत्व वाली वामपंथी संयुक्त मोर्चे की सरकार के बीच बड़े ही मधुर सम्बन्ध थे।

द्वितीय, 16 अगस्त, 1984 ई. को आन्ध्रप्रदेश के राज्यपाल श्री रामलाल ने सत्तारूढ तेलगुदेशम् में हुए विद्रोह की घटनाओं की पृष्ठभूमि में मुख्यमंत्री एन.टी. रामाराव को बर्खास्त करके नान्देला भास्कर राव को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई। राज्यपाल के इस निर्णय पर संसद, अनेक राज्यों की विधानसभाओं, समाचार पत्रों और सार्वजनिक मंचों से इतनी प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ हुईं कि देश में राजनीतिक तूफान-सा खड़ा हो गया। अनेक स्थानों पर तो राज्यपाल के पुतले तक जलाये गये। 24 अगस्त, 1984 ई. को अपने विरुद्ध प्रबल जनरोष को ध्यान में रखते हुए राज्यपाल श्री रामलाल ने अपने पद से त्यागपत्र दे

दिया। ऐसा करते हुए उन्होंने कहा कि मैं इस पद की गरिमा को बनाये रखने के लिए ही अपने पद से त्यागपत्र दे रहा हूँ। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने संसद में दिये गये अपने वक्तव्य में यह स्पष्ट कहा था कि आन्ध्रप्रदेश के राज्यपाल ने श्री रामाराव को बर्खास्त करने के पहले उनसे कोई सलाह नहीं ली थी। इस वक्तव्य के बाद आन्ध्रप्रदेश से रामलाल का जाना निश्चित हो गया था। निस्संदेह, राज्यपाल श्री रामलाल को आन्ध्र और शेष देश में पैदा हुए क्षोभ और जनरोष को शांत करने की दृष्टि से त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा।[3] श्री रामलाल के त्यागपत्र को इस दृष्टि से अनूठा माना जायेगा कि उन्हें न केवल प्रबल जनरोष की पृष्ठभूमि में त्यागपत्र देने को बाध्य होना पड़ा, अपितु केन्द्रीय राजनीति की 'बलि' का शिकार भी बनना पड़ा। श्री रामलाल के त्यागपत्र देने के पश्चात् श्री शंकरदयाल शर्मा को आन्ध्र-प्रदेश के राज्यपाल के रूप में स्थानान्तरित किया गया। नये राज्यपाल को भी असाधारण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। नये राज्यपाल के सम्मुख श्री भास्कर राव को शक्ति-परीक्षण का अवसर देने, श्री रामाराव के बहुमत के दावे के आधार पर उन्हें पुनः मुख्यमंत्री पद पर बहाल करने, और राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति में सुधार करने जैसी गहन चुनौतियाँ विद्यमान थीं। डॉ. शर्मा ने इन सबका अत्यन्त कुशलतापूर्वक संचालन कर के श्री एन.टी. रामाराव के नेतृत्व में पुनः राज्य में लोकप्रिय-मंत्रिमंडल को सत्ता में प्रतिष्ठित किया।

तृतीय, मार्च, 1985 में मध्यप्रदेश विधानसभा के चुनावों में कांग्रेस (इं) को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होने पर श्री अर्जुन सिंह को राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया। मुख्यमंत्री की शपथ लेने के तुरन्त बाद ही उन्हें पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति से राजनैतिक पर्यवेक्षक स्तब्ध रह गये। लेकिन जिस तरीके से राज्यपाल के.टी. सत्तारावाला को राज्यपाल पद छोड़ने के लिए कहा गया, वह न केवल असामान्य ही था, अपितु औचित्यता से भी परे था। नये राज्यपाल की नियुक्ति की घोषणा होने तक उन्हें घटनाचक्र का कोई पता नहीं था। उन्हें इसकी विधिवत् सूचना भी नहीं दी गई थी। "यहाँ से जिस तरीके से उनको हटाया गया, वह सौजन्य और पद की गरिमा के विपरीत था। न तो उनका तबादला हुआ और न ही कार्यकाल खत्म हुआ। पंजाब में उनका कार्यकाल उपलब्धिमय नहीं था, तो किसी किस्म की आपत्तिवाला भी नहीं था। उन्होंने पद की गरिमा कायम रखी और सभी से सौजन्यपूर्ण सम्बन्ध बनाये। उन्हें विश्वास में लेकर एकाएक बिस्तर बाँधने से बचाया जा सकता था।"[4] निस्संदेह, यहाँ उचित यही होता कि श्री अर्जुनसिंह की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति किये जाने से पूर्व श्री के.टी. सत्तारावाला को वस्तुस्थिति की जानकारी दी जानी चाहिए थी। इतना ही नहीं, अच्छा यही होता कि उन्हें किसी अन्य राज्य में राज्यपाल-पद पर स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए था। इस तरह के निर्णय से इस पद की छवि धूमिल हो जाती है।

चतुर्थ, 30 जनवरी, 1990 को चन्द्रशेखर के नेतृत्व वाली जनता दल (समाजवादी) की सरकार ने तमिलनाडु में एम. करुणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक सरकार को बर्खास्त कर दिया। राज्य के राज्यपाल सुरजीतसिंह बरनाला ने द्रमुक सरकार को बर्खास्त करने

सम्बन्धी कोई प्रतिवेदन केन्द्र सरकार को नहीं भेजा था। उन्होंने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि उन्होंने न तो बर्खास्तगी के प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर ही किये थे और न ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की वकालात की थी। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद भी दो सप्ताह तक राज्यपाल-पद पर बने रहे। इस बीच उन्हें बिहार के राज्यपाल-पद पर स्थानान्तरित कर दिया गया। तत्कालीन परिस्थितियों में सुरजीतसिंह बरनाला का बिहार में स्थानान्तरण, केन्द्र का उन्हें यह स्पष्ट संकेत था कि उन्हें राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देना चाहिए। 13 फरवरी, 1991 को श्री बरनाला ने अपने को बिहार के राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने के निर्णय के विरोध में राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया।

पंचम्, असम के तत्कालीन राज्यपाल देवीदास ठाकुर को भी केन्द्रीय दबाव के कारण अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। 14 मार्च, 1990 को राज्यपाल को राज्य के मंत्रिमण्डलीय सचिव ने प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर की उनके त्यागपत्र देने सम्बन्धी इच्छा की जानकारी दी, और अगले ही दिन उन्होंने उसकी अनुपालना की। 15 मार्च को राज्यपाल ने राष्ट्रपति को अपना त्यागपत्र भेज दिया।[5]

षष्ठ, जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन को भी त्यागपत्र देने के लिए विवश किया गया। 14 जनवरी, 1990 को उन्होंने जनरल के.वी. कृष्णाराव से राज्यपाल-पद का कार्यभार संभाला था। अपनी नियुक्ति के प्रथम दिन से ही राज्यपाल जगमोहन विवादास्पद बन गये। कांग्रेस (इ), नेशनल कांफ्रेंस, और वामपंथी दल इस नियुक्ति के विरुद्ध थे। श्री जगमोहन राज्यपाल का कार्यभार संभालते ही राज्य की बिगड़ती हुई कानून और व्यवस्था की स्थिति को सुधारने के लिए अथक प्रयत्नों में लग गए। उन्होंने आतंकवादियों और राष्ट्र विरोधी तत्त्वों पर शिकंजा कसना प्रारम्भ किया। फलतः अनेक आतंकवादी या तो पकड़े गये अथवा मारे गये। नगरों में आतंकवादियों की घर-घर तलाशी लेने के लिए कर्फ्यू लगाये गये। धार्मिक स्थलों से लाउड स्पीकरों के माध्यम से राष्ट्र-विरोधी प्रचार को रोका गया। सुरक्षा बलों को व्यापक अधिकार देकर राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों से सख्ती से निपटा गया। 21 जनवरी, 1990 को श्रीनगर में सुरक्षा बलों और भारत विरोधी और पाकिस्तान के समर्थन में नारे लगा रही भीड़ में हुई हिंसक मुठभेड़ में 32 व्यक्ति मारे गये। श्री जगमोहन ने अत्यन्त दृढ़ता से स्थिति का सामना किया। इस घटना ने जगमोहन के विरुद्ध प्रबल आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। नई दिल्ली में नेशनल कांफ्रेंस के तीन सांसदों प्रो. सैफुद्दीन सोज, प्यारेलाल हांडू और मोहम्मद शफी ने राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण से भेंट कर एक ज्ञापन दिया, और उनसे यह आग्रह किया गया कि जगमोहन को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल-पद से तुरन्त हटा दिया जाए। कांग्रेस (इ) जगमोहन की कार्यप्रणाली की निरन्तर आलोचना करती रही, और उन्हें राज्यपाल-पद से हटाने की आवाज उठाती रही। 6 मार्च, 1990 को कांग्रेस (इ) अध्यक्ष राजीव गाँधी के नेतृत्व में दल का एक प्रतिनिधि मंडल राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण से मिला, और उनसे राज्यपाल जगमोहन और केन्द्रीय गृहमंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद को हटाने की माँग की। श्री राजीव गाँधी के नेतृत्व में मिले इस प्रतिनिधि मंडल में डॉ. फारूख अब्दुल्ला, मोहम्मद शफी कुरेशी और

पी.वी. नरसिंह राव सम्मिलित थे। लेकिन राष्ट्रपति ने जगमोहन को हटाने की माँग को अस्वीकार कर दिया।[6] उन्होंने इस प्रतिनिधि मंडल को यह आश्वासन दिया कि वे सभी तथ्यों को प्रधानमंत्री तक पहुँचा देंगे। इसके बाद भी कांग्रेस (इ) राज्यपाल को हटाने की माँग करती रही। इतना ही नहीं, अन्य दल भी, विशेषकर वामपंथी दल भी जगमोहन की नियुक्ति से अप्रसन्न थे। अतः वे भी उन्हें हटाये जाने के पक्ष में थे। 24 मई को केन्द्रीय गृहमंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद ने भी उन्हें अपने पद से त्यागपत्र देने की सलाह दी थी। चारों तरफ से पड़ रहे दबाव को अनुभव करते हुए राज्यपाल ने त्यागपत्र देने का निर्णय लिया। 25 मई, 1990 को जगमोहन ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके त्यागपत्र को स्वीकृत करने के लिए राष्ट्रपति के पास शिमला भेजा गया। राष्ट्रपति ने उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया।

प्रतिक्रिया

श्री जगमोहन के त्यागपत्र पर भारतीय जनता पार्टी ने बड़ी प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की। 25 मई को ही पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने जगमोहन को वापस बुलाने के केन्द्र सरकार के निर्णय पर विरोध करने के लिए नई दिल्ली में एक संवाददाता सम्मेलन बुलाया। श्री आडवाणी ने कहा कि हमने अपने विरोध से प्रधानमंत्री को अवगत करा दिया है। भारतीय जनता पार्टी ने इसके विरुद्ध अपना रोष व्यक्त करते हुए कहा कि इससे जम्मू-कश्मीर की स्थिति में सुधार नहीं होगा। दल के एक नेता श्री केदारनाथ साहनी ने इस निर्णय के विरोध में प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर जम्मू-कश्मीर की सर्वदलीय सलाहकार समिति की सदस्यता से अपना त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने जगमोहन को वापस बुलाने के निर्णय को 'भयंकर भूल' बताया। श्री आडवाणी ने कहा कि "कांग्रेस (इ) तथा कुछ अन्य दलों ने शुरू से ही जगमोहन विरोधी अभियान छेड़ा हुआ था, लेकिन केन्द्र ने यह निर्णय वामपंथी दलों के खेमे में परिवर्तन के कारण लिया। यह दबाव में आकर लिया गया निर्णय है।" इतना ही नहीं उसी दिन भारतीय जनता पार्टी ने जगमोहन के मामले पर राज्यसभा से बहिर्गमन किया।[7] 28 मई, 1990 को भारतीय जनता पार्टी ने जगमोहन को राज्यपाल-पद से हटाये जाने के निर्णय के विरोध में नई दिल्ली में प्रदर्शन किया। दूसरी तरफ कांग्रेस (इ), वामपंथी दलों, जनता दल के एक गुट और नेशनल कांफ्रेंस ने जगमोहन को हटाये जाने के निर्णय का स्वागत किया।

जम्मू-कश्मीर के विभिन्न संभागों में इस त्यागपत्र की मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। 26 मई, 1990 को जम्मू संभाग पूर्ण रूप से बंद रहा, और संभाग के सभी छोटे-बड़े कस्बों में लोगों ने जुलूस निकाल कर विरोध व्यक्त किया। इन जुलूसों में केन्द्र सरकार के विरुद्ध नारेबाजी की गई। दूसरी तरफ कश्मीर घाटी में जगमोहन के त्यागपत्र का स्वागत किया गया। राज्य के आतंककारियों और उग्रवादियों में नये उत्साह का संचार हुआ।

राष्ट्रपति ने जगमोहन को राज्यसभा के सदस्य के रूप में मनोनीत किया। 29 मई को जगमोहन ने राज्यसभा के सदस्य के रूप में शपथ ली। यह भी देश में पहला अवसर

था कि किसी राज्यपाल को हटाये जाने के तुरन्त बाद ही उसे राष्ट्रपति द्वारा संसद सदस्य के रूप में मनोनीत किया गया हो। कांग्रेस (इं) ने जगमोहन की नामजदगी का विरोध करते हुए उसे राजनीतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध बताया। श्री जगमोहन के राज्यसभा की सदस्यता की शपथ लेने के पूर्व कांग्रेस (इं) के सदस्यों ने सदन से बहिर्गमन किया।

जगमोहन-प्रकरण ने निम्नलिखित राजनीतिक प्रश्नों को जन्म दिया है– प्रथम, सन् 1984 में डॉ. फारूख अब्दुल्ला की सरकार को बर्खास्त करके गुल मोहम्मद शाह के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार को प्रतिष्ठित करने के निर्णय के कारण जगमोहन को राष्ट्र-व्यापी रोष का सामना करना पड़ा था। नेशनल कांफ्रेंस उनसे बहुत अधिक रुष्ट थी। जब राज्य में डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस (इं) की संविद सरकार कार्य कर रही थी, तो जगमोहन को ही राज्यपाल के रूप में क्यों चुना गया? डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने उनकी नियुक्ति का स्पष्ट रूप से विरोध करते हुए कहा था कि राज्य सरकार इसे सहन नहीं करेगी। जम्मू-कश्मीर जैसे राज्य की विस्फोटक स्थिति को देखते हुए एक निर्वाचित सरकार के साथ टकराव का मार्ग अपनाते हुए जगमोहन की राज्यपाल के पद पर नियुक्ति ही क्यों की गई? इस प्रश्न पर केन्द्र सरकार की विफलता तो उसी दिन उजागर हो गई, जबकि डॉ. फारूख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल ने राज्यपाल की नियुक्ति के विरोध में अपना त्यागपत्र दे दिया था। द्वितीय, जगमोहन की नियुक्ति ने राष्ट्रीय मोर्चे के समर्थक दलों की मिश्रित प्रतिक्रिया को उजागर किया। जहाँ भारतीय जनता पार्टी ने इस निर्णय का स्वागत किया, वहाँ वामपंथी दलों ने इस नियुक्ति के लिए राष्ट्रीय मोर्चे सरकार की आलोचना की। इस स्थिति को टालने के लिए इस नियुक्ति से बचा जा सकता था। तृतीय, जगमोहन अपनी सख्त कार्य-शैली के लिए विवादास्पद रहे हैं। दिल्ली के उपराज्यपाल के रूप में और जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल के रूप में अपने प्रथम कार्यकाल में जिस तरह की कार्य-शैली अपनाई, उसके कारण वे विवादास्पद बन गये। उनकी राज्यपाल पद पर नियुक्ति करने के पूर्व केन्द्र सरकार को यह सोचना चाहिए था कि क्या जगमोहन राज्यपाल के रूप में अपनी कार्य-शैली में परिवर्तन कर सकेंगे? क्या वे अपनी कार्य-शैली से राज्य के राजनेताओं के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे? अपने द्वितीय कार्यकाल में भी राज्यपाल ने राज्य में शांति और व्यवस्था को सुधारने और आतंकवादियों की कमर तोड़ने के लिए कड़े से कड़े कदम उठाने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। उन्होंने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानते हुए राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों के साथ इतनी कड़ाई से निपटा कि उनके हौसले पस्त होने लगे। परिणामस्वरूप उनको शरण देने वाले और उनको समर्थन देने वाले 'निहित राजनीतिक स्वार्थ' तिलमिला उठे। उन पर अनर्गल आरोपों की बौछारें की गईं। लेकिन राज्यपाल अपने आचरण में पूर्ण रूप से सही थे। कोई भी राज्यपाल राज्य में राष्ट्र-विरोधी नारे लगाने, पाकिस्तान का झण्डा फहराने, और धार्मिक स्थलों का राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों द्वारा उपयोग करने की छूट नहीं दे सकता था। श्री जगमोहन ने भी यही किया। उन्होंने राज्यपाल के रूप में कार्य करते हुए कितना मानसिक दबाव झेला होगा, उसकी भी कल्पना की जानी चाहिए। श्री जगमोहन की इसी दृढ़ निर्णय लेने की शक्ति ने उन्हें आलोचना

का पात्र बना दिया। चतुर्थ, राज्यपाल जगमोहन ने केन्द्र से परामर्श लिये बिना ही राज्य विधानसभा को भंग करते हुए राज्यपाल शासन लागू कर दिया था। उस समय ही केन्द्र को राज्यपाल को हटा देना चाहिए था, और उस समय राजनीतिक दृष्टि से केन्द्र का यह कदम उचित होता। पंचम्, कश्मीर-मामलों के मंत्री जार्ज फर्नाण्डीज और राज्यपाल जगमोहन के बीच कश्मीर-समस्या के समाधान करने के उपायों के बारे में गंभीर मतभेद थे। इस कारण से इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में विफलता हाथ लगी। ऐसी स्थिति में भी राज्यपाल को बदला जा सकता था। षष्ठम्, राज्यपाल जगमोहन की कठोर कार्यवाही से राज्य में प्रशासनिक अधिकारियों और कर्मचारियों में नया उत्साह और आत्म-विश्वास का संचार हुआ था। लेकिन अचानक उन्हें पद से हटाये जाने के निर्णय ने उनके मनोबल को गिराया। सप्तम्, राज्यपाल जगमोहन को हटाये जाने के बाद श्रीनगर में जिस तरह की खुशियाँ मनाई गईं, और पाकिस्तान-समर्थक नारे लगाये गये उससे तो यही आभास होता था कि राज्यपाल ही उनके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थे। निस्संदेह राज्यपाल ने अत्यन्त कम अवधि में ही राज्य में शांति और व्यवस्था की स्थिति में सुधार ला दिया था। धार्मिक स्थलों से राष्ट्र-विरोधी प्रचार और गतिविधियाँ बंद हो गई थीं, और राज्य में बड़ी तेजी से स्थिति सामान्य होती जा रही थी। इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या जगमोहन को हटाने से उग्रवादियों और आतंकवादियों में यह भावना घर नहीं करेगी कि वे अपने विरोध की दृढ़ता से हर उस बाधा को हटाने में सफल होंगे, जो उनके लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक बनेगा? अष्टम्, एक तरफ तो राज्यपाल जगमोहन को प्रबल राजनीतिक विरोध के कारण उनके पद से हटाकर उनको अपमानित किया गया, और दूसरी तरफ तुरन्त ही उन्हें राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा की सदस्यता के लिए मनोनीत किया गया। इस कार्यवाही में किसी प्रकार का कोई तारतम्य नजर नहीं आता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल जगमोहन की नियुक्ति और उन्हें हटाये जाने की प्रक्रिया ने देश में पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न की।

(3) राष्ट्रपति का राज्यपालों को त्यागपत्र देने का निर्देश

1 दिसम्बर, 1989 को विश्वनाथ प्रतापसिंह के प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने के साथ ही केन्द्र में अल्पमतीय राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हो गई। इस नये राजनीतिक परिवेश में राज्यपालों की स्थिति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। केन्द्र में सत्ता परिवर्तन होते ही कुछ राज्यपालों ने राष्ट्रपति को अपने त्यागपत्र भेज दिये। असम के राज्यपाल हरिदेव जोशी ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। दिल्ली के उपराज्यपाल रोमेश भण्डारी ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। 14 जनवरी, 1990 को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जनरल के.सी. कृष्णाराव ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। 6 दिसम्बर को पंजाब के राज्यपाल सिद्धार्थ शंकर राय ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इन सबके बावजूद भी अधिकांश राज्यों में कांग्रेस (इ) शासनकाल में नियुक्त राज्यपाल कार्य कर रहे थे, और राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के लिए उन्हें हटाना एक राजनीतिक आवश्यकता

थी। अलग-अलग रूप से राज्यपालों को हटाये जाने से गंभीर संवैधानिक और राजनीतिक समस्याएँ उठ खड़ी हो सकती थीं। उनसे मुक्ति पाने के लिए 'राष्ट्रपति के निर्देश' का सहारा लिया गया।

15 जनवरी, 1990 को राष्ट्रपति ने अपने संदेश में सभी राज्यों के राज्यपालों को त्यागपत्र देने को कहा। इसके पूर्व 14 जनवरी को केन्द्रीय गृहमंत्री मुफ्ती मोहम्मद सईद ने राष्ट्रपति से भेंटकर के केन्द्र सरकार के लगभग छह राज्यपालों को बदलने के इरादे से उन्हें अवगत कराया। गृहमंत्री ने राष्ट्रपति को बताया कि ये राज्यपाल लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इ) के पराजय से बदले राजनीतिक स्थिति के अनुरूप अपने आपको नहीं ढ़ाल पा रहे हैं। सूत्रों के अनुसार राष्ट्रपति सरकार की इस राय से सहमत नहीं थे कि कुछ राज्यों के राज्यपाल ही बदले जायें क्योंकि इससे पक्षपात परिलक्षित होगा। इस पर यह तय रहा कि राष्ट्रपति सभी राज्यपालों से त्यागपत्र ले लें, और नये सिरे से नियुक्तियाँ हों, जिनमें कुछ राज्यों के राज्यपालों को दोबारा नियुक्त न किया जाय।[8] 16 जनवरी को प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि कुछ राज्यों में राज्यपाल बदले जायेंगे।

राज्यपालों द्वारा राष्ट्रपति के संदेश की अनुपालना

16 जनवरी को राष्ट्रपति के संदेश की अनुपालना करते हुए आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, हरियाणा व नागालैण्ड के राज्यपालों, क्रमशः — सुश्री कुमुद बेन जोशी, पी. वैंकटसुब्बया, एच.ए. बरारी और गोपाल सिंह ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया।

17 जनवरी को राष्ट्रपति की सलाह पर उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गोवा, केरल, तमिलनाडु, उड़ीसा, सिक्किम, हिमाचल प्रदेश, मिजोरम, पश्चिमी बंगाल, अरुणाचल प्रदेश, और महाराष्ट्र के राज्यपालों ने अपने त्यागपत्र दे दिये। ये राज्यपाल क्रमशः थे— उस्मान आरिफ खां, सुखदेव प्रसाद, खुर्शीद आलम खान, श्रीमती रामदुलारी सिन्हा, पी.सी. अलेक्जेण्डर, नूरूल हसन, एस.के. भटनागर, आर.के.एस. गाँधी, डब्ल्यू.ए. संगमा, टी.वी. राजेश्वर राव, आर.डी. प्रधान, और के. ब्रह्मानन्द रेड्डी। राज्यपालों ने अपने त्यागपत्र संदेशवाहकों के हाथों राष्ट्रपति को प्रेषित किये, जबकि सिक्किम के राज्यपाल ने स्वयं ही राष्ट्रपति को अपना त्यागपत्र दिया। इस दिन तक 19 राज्यपाल अपने त्यागपत्र राष्ट्रपति को भेज चुके थे।

18 जनवरी को भी राज्यपालों के त्यागपत्र देने का क्रम जारी रहा। मध्यप्रदेश, गुजरात, त्रिपुरा के राज्यपालों, क्रमशः — श्रीमती सरला ग्रेवाल, आर.के. त्रिवेदी और सुल्तान सिंह ने भी त्यागपत्र दे दिये। अंडमान-निकोबार के उपराज्यपाल टी.एस. ओबेराय ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। 19 जनवरी को मेघालय के राज्यपाल ए.ए.रहीम ने भी अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

30 जनवरी को तीन राज्यपालों – आन्ध्रप्रदेश की कु. कुमुद बेन जोशी, कर्नाटक के पी. वैंकटसुब्बया, और केरल की रामदुलारी सिन्हा ने राष्ट्रपति को पत्र लिखकर उन्हें

तुरन्त कार्यमुक्त करने का अनुरोध किया। उनके मत में त्यागपत्र देने के बाद इस पद पर बने रहना इस पद की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं था। इन राज्यों में नये राज्यपालों की नियुक्तियाँ नहीं होने के कारण ही ये राज्यपाल अपने पदों पर बने हुए थे।

26 अप्रैल, 1990 को गुजरात, नागालैण्ड, एवं मेघालय के राज्यपालों, क्रमशः — आर.के. त्रिवेदी, गोपालसिंह व ए.ए. रहीम को पद-मुक्त कर दिया गया। इनके स्थान पर नये राज्यपालों द्वारा शपथ लेने के कारण ऐसा किया गया था।

राज्यपालों के हटाये जाने के पक्ष में तर्क

तत्कालीन गृहमंत्री श्री सईद ने अपने वक्तव्यों में राज्यपालों को राष्ट्रपति के निर्देश के माध्यम से हटाये जाने का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने जो तर्क दिये, उससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं- प्रथम, राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, अतः यह राष्ट्रपति पर निर्भर करता है कि कौन व्यक्ति राज्यपाल-पद पर रहेगा, अथवा नहीं। राज्यपाल, राष्ट्रपति अर्थात् केन्द्र सरकार के विश्वास-पर्यन्त तक ही अपने पदों पर बने रह सकते हैं। द्वितीय, केन्द्र में सरकार के बदलने के साथ ही राज्यपालों द्वारा स्वतः ही त्यागपत्र देने की परम्परा स्थापित कर दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्यपालों को हटाये जाने के पीछे निम्नलिखित कारण भी उत्तरदायी रहे—

प्रथम, कतिपय राज्यों के राज्यपाल इस पद को धारण करने से पूर्व कांग्रेस (इ) के संगठन और सत्तापक्ष के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन रह चुके थे। ये राज्यपाल केन्द्र में नई सरकार के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल हो पाते, इस बात में संदेह था। अतः उन्हें हटाया जाना अपेक्षित था। द्वितीय, केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के संचालन में राज्यपाल को एक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना जाता है। अतः राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार पुराने राज्यपालों को हटाकर ऐसे राज्यपालों की नियुक्ति करने के पक्ष में थी, जो उनके अनुकूल सिद्ध हो सकें। तृतीय, केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद इस सरकार ने सन् 1977 और 1980 का इतिहास नहीं दोहराते हुए कांग्रेस (इ) शासित राज्य सरकारों को बर्खास्त नहीं करने का निर्णय लिया। इसका कांग्रेस (इ) शासित सरकारों ने पूरा राजनीतिक लाभ उठाया। फरवरी, 1990 के राज्य-विधानसभाओं के चुनाव में मतदाताओं को प्रभावित करने के लिए अनेक ऐसी घोषणाएँ कीं, जिससे सरकार पर भारी वित्तीय जिम्मेदारी आरोपित होती थी और आने वाली राज्य सरकारों के लिए उन दायित्वों की अनुपालना करना बहुत कठिन था। राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र के कांग्रेस (इ) शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केन्द्र की राष्ट्रीय मोर्चा सरकार और आने वाली अपनी उत्तराधिकारी राज्य सरकारों को इन उत्तरदायित्वों के भार को वहन करने के लिए विवश करने हेतु ऐसी ही व्यूहनीति अपनाई। संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में इन राज्यों के राज्यपालों ने अपनी राज्य सरकारों द्वारा लिये गये निर्णयों का विरोध करने के स्थान पर उन पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी। राज्यपालों द्वारा की गई इस

अनदेखी से केन्द्रीय सरकार का रुष्ट होना स्वाभाविक ही था, और उन्होंने राज्यपालों को हटाये जाने का मानस बनाया। चतुर्थ, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के सभी राज्यपालों से त्यागपत्र माँगने के लिए राष्ट्रपति के निर्देश जारी करने के पीछे यह भी धारणा थी कि उस पर किसी राज्यपाल विशेष के साथ पूर्वाग्रह या पक्षपात से कार्यवाही करने का आरोप नहीं लगे। सभी राज्यपालों से एक साथ त्यागपत्र माँगने के कारण इस प्रकार की आशंका ही समाप्त हो गई। पंचम्, यह भी राजनीतिक यथार्थता है कि सत्तारूढ़ दल द्वारा अपने समर्थकों को महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित कर के उनका समर्थन और विश्वास प्राप्त किया जाता है। राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार राज्यपाल जैसे गरिमामय पद पर अपने दल के समर्थकों को नियुक्त करना चाहती थी।

राज्यपालों को त्यागपत्र देने के निर्देश की आलोचना

केन्द्र सरकार द्वारा राष्ट्रपति के निर्देश के माध्यम से राज्यपालों को हटाये जाने की कांग्रेस (इ) के प्रवक्ताओं द्वारा तीव्र निन्दा की गई, और इसे 'गरिमाविहीन कदम' बताया गया। इस कदम की आलोचना करते समय निम्नलिखित तर्क दिये गये—

प्रथम, केन्द्र सरकार के इस निर्णय ने राज्यपाल संस्था का 'राजनीतिकरण' कर दिया, और उसे दलगत राजनीति में घसीट लिया गया।

द्वितीय, केन्द्रीय गृहमंत्री की यह राय कि केन्द्र में सरकार के परिवर्तन के साथ ही राज्यपालों को भी त्यागपत्र दे देना चाहिए, संविधान की भावना के विपरीत थी। राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। **यहाँ यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि क्या राज्यपाल को अपना कार्यकाल पूरे हुए बिना ही केन्द्र में सरकार का परिवर्तन हो जाए, तो त्यागपत्र दे देना चाहिए?** इस विचार की परिकल्पना संविधान निर्माताओं ने नहीं की थी। केन्द्र में सरकार में परिवर्तन होने का तात्पर्य यह तो नहीं है कि अकारण ही राष्ट्रपति राज्यपालों से अपना विश्वास वापस ले लें। इस बार भी राष्ट्रपति वैंकटरमण ने राज्यपालों को अपने पदों से त्यागपत्र देने के लिए निर्देश देते समय इस कारण को स्पष्ट नहीं किया कि वे उनसे किस कारण से त्यागपत्र माँग रहे हैं। इसके अलावा लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। लेकिन राज्यपाल जैसे निर्दलीय चरित्र की संस्था में परिवर्तन किस आधार पर किए जाएँ, यह समझ से परे था।

तृतीय, केन्द्र सरकार को जिन राज्यपालों को हटाना था, अगर वह उन राज्यपालों को इस आशय का संकेत मात्र दे देती तो वे स्वतः ही अपने पद से त्यागपत्र दे देते। इससे सरकार को सभी राज्यपालों को त्यागपत्र देने सम्बन्धी 'निर्देश' जारी करने सम्बन्धी असाधारण कदम नहीं उठाना पड़ता।

चतुर्थ, केन्द्र सरकार ने इस प्रकार का कदम उठाकर भविष्य के लिए भी एक खतरनाक परम्परा का सूत्रपात कर दिया। अब कोई भी केन्द्र सरकार सत्ता में आते ही राज्यपालों को हटा देगी।

(4) राज्यपालों को बदले जाने की चर्चा और उनके त्यागपत्र

जून, 1991 में केन्द्र में प्रधानमंत्री नरसिंहराव की कांग्रेस (इ) की सरकार सत्ता में आई। नई सरकार के सत्ता में आते ही राज्यों में राज्यपालों के हटाये जाने या बदले जाने की चर्चा चल पड़ी, क्योंकि अधिकांश कार्यरत राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रीय मोर्चे और जनता दल (समाजवादी) की सरकारों द्वारा की गई थी। परिणामस्वरूप इस दबाव को ध्यान में रखकर अनेक राज्यों के राज्यपालों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिये। राजस्थान के राज्यपाल देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। मिजोरम के राज्यपाल स्वराज कौशल, उड़ीसा के राज्यपाल यज्ञदत्त शर्मा, और हिमाचलप्रदेश के राज्यपाल वीरेन्द्र वर्मा ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिये।

(5) राज्यपाल के साक्षात्कार से उत्पन्न विवाद और त्यागपत्र

7 जनवरी, 1993 को महाराष्ट्र के राज्यपाल सी. सुब्रह्मण्यम ने गोआ के एक सामाचार पत्र में छपे अपने कथित साक्षात्कार को लेकर उठे विवाद के चलते अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। बताया गया है कि इस साक्षात्कार में उन्होंने प्रधानमंत्री की कार्य-शैली की आलोचना की थी।

राष्ट्रपति भवन की एक विज्ञप्ति में कहा गया कि राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने सुब्रह्मण्यम का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया है, तथा वैकल्पिक व्यवस्था होने तक गुजरात के राज्यपाल सरूपसिंह से महाराष्ट्र के राज्यपाल का कामकाज संभालने को कहा गया।[9] दूसरी ओर, महाराष्ट्र के पूर्व राज्यपाल सी. सुब्रह्मण्यम ने कहा कि प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिंहराव ने उनसे इस्तीफा नहीं माँगा था, बल्कि उन्होंने स्वेच्छा से त्यागपत्र दिया।[10]

(6) राज्य में नई राजनीतिक प्रक्रिया की शुरूआत का मानस और राज्यपाल का त्यागपत्र

सन् 1990 से ही जम्मू-कश्मीर में राष्ट्रपति शासन लागू है। राज्य में सामान्य राजनीतिक प्रक्रिया की शुरूआत करने के लिए सतत् प्रयास किये जाते रहे हैं। राज्य में नई राजनीतिक प्रक्रिया के प्रारम्भ होने की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में राज्यपाल डॉ. गिरीशचन्द्र सक्सेना ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर जनरल के.वी. कृष्णाराव को राज्य का राज्यपाल बनाया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री राव पहले भी राज्य के राज्यपाल रह चुके हैं। अतः यह स्पष्ट है कि गिरीशचन्द्र सक्सेना ने केन्द्र सरकार के संकेत या दबाव पर ही राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दिया।

(7) चुनावों का ऐनवक्त पर स्थगन और राज्यपाल का त्यागपत्र

पंजाब में ऐनवक्त पर चुनाव स्थगित किये जाने के सम्बन्ध में राज्यपाल की सलाह नहीं लेने के विरोध में राज्यपाल जनरल ओमप्रकाश मल्होत्रा ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। 22 जून, 1991 को उन्होंने ऐसा किया। श्री मल्होत्रा ने पंजाब में उनकी सलाह

के बगैर ऐनवक्त पर चुनाव स्थगित किए जाने के विरोध में यह कदम उठाया। केन्द्र सरकार की इस कार्रवाई के बाद राज्यपाल के पास त्यागपत्र देने के अलावा अन्य कोई दूसरा विकल्प ही नहीं रह गया था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्र में सरकार बदलने के साथ ही राज्यों में राज्यपाल बदले गए। राज्यपालों पर त्यागपत्र देने के लिए दबाव डालकर उन्हें पद छोड़ने के लिए विवश किया गया। इस स्थिति को उचित नहीं कहा जा सकता है। राज्यपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष का होता है। जब तक राज्यपाल अपने संवैधानिक दायित्वों का ठीक ढँग से पालन करे, तब तक उन्हें अपने पद से नहीं हटाया जाना चाहिए। राज्यपालों को अमर्यादित और अवांछनीय ढँग से हटाने से उनकी गरिमा का हनन होता है।

संदर्भ

1. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अप्रैल 12, 1992, पृष्ठ 1
2. राज्यपालों की बर्खास्तगी, दिनमान, नई दिल्ली, सितम्बर 27, अक्टूबर 3, 1981 (टाइम्स ऑफ इण्डिया का प्रकाशन) पृष्ठ 23
3. कौल, जवाहरलाल; रामलाल का त्यागपत्र और शतरंज की अगली चालें, दिनमान, नई दिल्ली, सितम्बर 2-8, 1984, पृष्ठ 14
4. नई दुनियाँ, इन्दौर, मार्च 22, 1985, पृष्ठ 4. एवं पाराशर, एच.सी.; भारत में वर्तमान राजनीति 2, राज्यपाल का पद एवं उथल-पुथल की राजनीति (पी.एस. पब्लिकेशन, भोपाल, 1986) पृष्ठ 411
5. शर्मा, गिरीशचन्द्र; पूर्वांचल की चिट्ठी - क्यों किया गया राज्यपाल बदलने का निर्णय? राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, मार्च 27, 1991, पृष्ठ 7
6. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, मार्च 6, 1990, पृष्ठ 1
7. तत्रैव, मई 26, 1990, पृष्ठ 1
8. तत्रैव, जून, 16, 1990, पृष्ठ 1
9. तत्रैव, जनवरी 8, 1993, पृष्ठ 1
10. तत्रैव, जनवरी 14, 1993, पृष्ठ 1

अध्याय - 14

विधायी भूमिका

संवैधानिक दृष्टि से राज्यपाल को राज्य-विधानसभा का अभिन्न अंग माना जाता है। उसे राज्य-विधानसभा का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने और विघटन करने की शक्ति प्राप्त होती है। सन् 1967 के पहले प्रायः सभी राज्यों में राज्यपालों द्वारा औपचारिक रूप से ही इन दायित्वों का निर्वाह किया जाता रहा। उन्हें कभी भी जटिल समस्या का सामना नहीं करना पड़ा था।

विधानसभा के सत्र बुलाने सम्बन्धी विवाद

सन् 1967 के बाद राज्यों में दलबदल की राजनीति, मुख्यमंत्रियों की बर्खास्तगी, और गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों के अभ्युदय ने राज्यपालों के विधानसभाओं के सत्र बुलाने सम्बन्धी कार्य को बहुत अधिक जटिल बना दिया। समान परिस्थितियों में भी राज्यपालों द्वारा समान मापदण्ड नहीं अपनाये जाने से उग्र विवाद उपस्थित हुए।

सन् 1967 ई. के बाद अनेक राज्यों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जबकि राज्यपालों ने दलबदल और दलीय विद्रोह से उत्पन्न राजनैतिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में मुख्यमंत्रियों का बहुमत संदिग्ध हो जाने के कारण उन्हें निर्धारित समय से पूर्व ही राज्य-विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश दिया। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पश्चिमी बंगाल की है। 3 नवम्बर, 1967 ई. को राज्य के अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाले संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल से खाद्य मंत्री डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष ने अपना त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने अपना त्यागपत्र मुख्यमंत्री को भेजने के स्थान पर सीधे ही राज्यपाल धर्मवीर को भेज दिया। 5 नवम्बर को राज्यपाल धर्मवीर ने मुख्यमंत्री की सलाह पर उस त्यागपत्र को स्वीकार कर लिया। डॉ.घोष के साथ संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल से 17 और विधायकों के अलग हो जाने से मुखर्जी सरकार का राज्य-विधानसभा में बहुमत समाप्त हो गया। डॉ. घोष के नेतृत्व में इन विधायकों ने लिखित रूप से राज्यपाल को यह सूचना दी कि वे संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल से अपना समर्थन वापस ले रहे हैं। इसके बाद राज्य में राजनैतिक-घटनाचक्र बहुत तेजी से घूमता गया। विपक्षी कांग्रेस दल इस

सरकार को अपदस्थ करने के लिए पहले से ही कटिबद्ध थी। उसने भी इस अवसर का राजनैतिक लाभ उठाया। 130 सदस्यीय कांग्रेस विधानमंडल की कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पारित करके दल के नेता को यह अधिकार प्रदान किया कि वे जो भी उचित समझें, कार्यवाही करें। डॉ. घोष और कांग्रेस ने राज्यपाल के सम्मुख संयुक्त मोर्चा सरकार को विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का अनुरोध किया। राज्य की बदलती हुई राजनैतिक स्थिति में राज्यपाल ने मुख्यमंत्री अजयकुमार मुखर्जी को लिखे अपने पत्र में लिखा था कि संयुक्त-मोर्चा सरकार का 17 सदस्यों द्वारा समर्थन बन्द कर देने के कारण यह संदेह उत्पन्न हो गया है कि संयुक्त मोर्चा सरकार को बहुमत प्राप्त है, अथवा नहीं? अतः इसका निराकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य-विधानसभा का सत्र शीघ्रातिशीघ्र बुलाया जाये। मुख्यमंत्री ने राज्यपाल के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि 18 दिसम्बर, 1967 ई. से पूर्व विधानसभा का अधिवेशन बुलाया जाना संभव नहीं है। संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल के इस निर्णय के कारण राज्य में संवैधानिक और राजनैतिक संकट गहरा होता गया। 17 नवम्बर, 1967 ई. को संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल ने राष्ट्रपति से यह अनुरोध किया कि वे अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत "सात महत्त्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्नों" पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श प्राप्त करें। इन प्रश्नों में विधानसभा का निर्णय प्राप्त किये बिना ही राज्यपाल द्वारा मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त करने, राज्यपाल द्वारा अपने स्व-विवेक के आधार पर ही मंत्रिपरिषद् की बर्खास्तगी, राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों की बैठक बुलाने के सम्बन्ध में राज्यपाल की मंत्रिपरिषद् की सलाह को मानने की बाध्यता है, अथवा उसके द्वारा मुख्यमंत्री की सलाह की उपेक्षा कर के अन्य समय पर विधानमंडल की बैठक बुलाई जा सकती है, मुख्यमंत्री अगर विधांनसभा की बैठक नहीं बुलाये तो क्या उसके विरुद्ध अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत कार्यवाही की जा सकती है, और क्या राज्यपाल अपने स्व-विवेक का प्रयोग करते हुए मंत्रिपरिषद् की सलाह को ठुकरा सकता है? इस तरह से इन प्रश्नों का सम्बन्ध मंत्रिपरिषद् की बर्खास्तगी, विधानसभा के सत्र को आहूत करने तथा राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के आपसी सम्बन्धों से था। भारत के संसदीय इतिहास में यह पहला अवसर था जबकि किसी राज्य की मंत्रिपरिषद् ने राज्यपाल की कार्यवाही और अधिकारों को परिभाषित करने के बारे में राष्ट्रपति से सर्वोच्च न्यायालय का मत जानने का निवेदन किया हो। इसी बीच राज्य के राज्यपाल ने मुख्यमंत्री और उपमुख्यमंत्री के साथ अपनी बातचीत के समय उन्हें राज्य-विधानसभा की बैठक बुलाने के लिए दो दिनों का समय दिया। इसी क्रम में केन्द्रीय-मंत्रिमंडल की राजनीतिक समिति ने यह निर्णय लिया कि पश्चिमी बंगाल की सरकार द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 20 नवम्बर को केन्द्रीय मंत्रिमंडल के उक्त निर्णय से राज्य सरकार को अवगत कराया गया। इस पर राज्य-मंत्रिमंडल ने अपनी बैठक में यह निश्चय किया कि राष्ट्रपति से इस निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए निवेदन किया जाये। इस घटनाचक्र के दौरान राज्य के महाधिवक्ता ने राज्य-मंत्रिमंडल को यह सलाह दे दी थी कि इस तरह की विलम्बकारी नीति को अपनाने से राज्यपाल राज्य-मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त करने का निर्णय भी ले सकते हैं। इस घटनाचक्र में संयुक्त-मोर्चा मंत्रिमंडल को एक गहरा आघात तब लगा, जबकि कांग्रेस विधानमंडलीय

दल के नेता ने राज्यपाल को लिखित रूप से यह सूचना दी कि उनका दल सरकार बनाने में डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष को सहयोग देगा। अन्त में, राज्यपाल ने 21 नवम्बर, 1967 ई. को संयुक्त-मोर्चा मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया, उसी दिन राज्य में डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष के नेतृत्व में नये मंत्रिमंडल को शपथ दिलाई गई।

इस सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण पंजाब का है। पंजाब में अकाली नेता प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में अकाली दल (संत फतेहसिंह) और भारतीय जनसंघ का संविद-मंत्रिमंडल 27 मार्च, 1970ई. से 30 जून, 1970ई. तक निर्विघ्न रूप से कार्य करता रहा। लेकिन 30 जून, 1970 को भाषा-नीति पर मतभेद उत्पन्न होने के कारण भारतीय जनसंघ ने इस मंत्रिमंडल से अलग होकर विपक्ष में बैठने का निर्णय लिया। इससे बादल-मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। श्री प्रकाशसिंह बादल ने मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया। राज्य के राज्यपाल डॉ. डी.सी. पावटे ने मुख्यमंत्री को राज्य-विधानसभा का शीघ्रातिशीघ्र अधिवेशन बुलाकर वहाँ अपनी शक्ति प्रदर्शित करने की सलाह दी। राज्यपाल ने 24 जुलाई, 1970 ई. को विधानसभा का सत्र बुलाने का निर्णय लिया, जिस पर राज्य-मंत्रिपरिषद् ने अपनी सहमति व्यक्त कर दी। इससे पंजाब में उत्पन्न संवैधानिक और राजनैतिक संकट टल गया।

तीसरा उदाहरण उड़ीसा का लिया जा सकता है। उड़ीसा में आर.एन. सिंहदेव के नेतृत्व में स्वतंत्र पार्टी और जन-कांग्रेस का संविद मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ था। लेकिन इस मंत्रिमंडल में शामिल घटक दलों में शीघ्र ही मतभेद उत्पन्न हो गये। जनवरी, 1971 ई. में जन-कांग्रेस ने सिंहदेव-मंत्रिमंडल से अलग होकर इसे समर्थन बन्द करने का निर्णय लिया। जन-कांग्रेस द्वारा सिंहदेव-मंत्रिमंडल से अलग होने के निर्णय के साथ ही विधानसभा में इस मंत्रिमंडल का बहुमत समाप्त हो गया, और यह मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। इस पर राज्य के राज्यपाल एस.एस. अंसारी ने मुख्यमंत्री से विधानसभा का शीघ्रातिशीघ्र अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश दिया। लेकिन राज्य के मुख्यमंत्री ने विधानसभा का अधिवेशन बुलाने के पूर्व ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके साथ ही उड़ीसा में उत्पन्न राजनैतिक संकट टल गया।

चौथा उदाहरण बिहार का है। सन् 1979 ई. में केन्द्र में जनता पार्टी के विभाजन के साथ ही जनता (एस) के नेता कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जनता विधायकों का एक बड़ा समूह जनता पार्टी से अलग हो गया। इस समूह ने जनता मुख्यमंत्री रामसुन्दरदास के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द कर दिया। इस पर राज्य के राज्यपाल ए.आर. किदवई ने मुख्यमंत्री को राज्य-विधानसभा का शीघ्रातिशीघ्र अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश दिया। मुख्यमंत्री रामसुन्दरदास ने राज्यपाल के आदेश को स्वीकार कर के विधानसभा का अधिवेशन बुलाया, जिसमें उन्होंने अपना बहुमत सिद्ध कर दिया।

उपर्युक्त चारों ही मामलों में राज्यपालों ने दलीय-विद्रोह की स्थिति में, और मंत्रिमंडल के प्रमुख घटक दल द्वारा मुख्यमंत्री का समर्थन बन्द कर देने के बाद उसके

अल्पमत में आने की स्थिति के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ही सम्बन्धित मुख्यमंत्रियों को विधानसभा का अधिवेशन बुलाने का आदेश दिया था। चारों ही राज्यपालों की यह कार्यवाही संविधान-सम्मत ही थी, क्योंकि संवैधानिक प्रावधान यह स्पष्ट करते हैं कि किसी भी मुख्यमंत्री के सत्तारूढ़ रहने की कसौटी राज्य-विधानसभा में उसके सतत् रूप से बहुमत का समर्थन प्राप्त करने पर ही निर्भर करती है। जब वे मुख्यमंत्री अल्पमत में आ गये तो सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों के लिए यही उचित था कि वे स्वयं अपनी तरफ से पहल करके राज्यपालों से विधानसभाओं का अधिवेशन बुलाने का अनुरोध करते। यही लोकतांत्रिक परम्पराओं का उचित तकाजा था लेकिन जब मुख्यमंत्रियों ने इस दिशा में कोई 'पहल' नहीं की तो राज्यपालों के लिए यही वांछित था कि वे सम्बान्धित मुख्यमंत्रियों को राज्य-विधानसभा का शीघ्रातिशीघ्र अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत प्रमाणित करने का आदेश देते। अतः राज्यपालों की इस कार्रवाई पर शंका करना अथवा उन पर अनुचित दोषारोपण करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

लेकिन सभी राज्यपालों ने समान मापदण्ड नहीं अपनाये। अनेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जबकि दलबदल या दलीय-विद्रोह के बाद मुख्यमंत्रियों के अल्पमत में आ जाने के बाद भी सम्बन्धित राज्यों के राज्यपालों ने इन मुख्यमंत्रियों को विधानसभा का शीघ्रातिशीघ्र अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश देने की आवश्यकता नहीं समझी। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरणों को उद्धृत किया जा सकता है। सर्वप्रथम मध्यप्रदेश का उदाहरण लिया जा सकता है। जुलाई 1967 ई. में दलबदल के कारण मध्यप्रदेश में द्वारिकाप्रसाद मिश्र के नेतृत्व वाले कांग्रेसी मंत्रिमंडल का पतन हो गया। विपक्षी दलों ने कांग्रेस छोड़कर आये श्री गोविन्दनारायण सिंह को संयुक्त मोर्चे का नेता निर्वाचित किया। 30 जुलाई, 1967 ई. को गोविन्दनारायण को राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया। लेकिन कुछ ही समय बाद संविद-सरकार में शामिल घटक दलों में संघर्ष की स्थिति के कारण इस सरकार का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया। बाद में इस संविद सरकार से दलबदल, मंत्रियों के बनने और हटने की प्रक्रिया, और सी.पी. तिवारी के नेतृत्व में प्रसोपा कांग्रेस गठबंधन जैसी घटनाओं ने मुख्यमंत्री के राज्य-विधानसभा में बहुमत को संदिग्ध बना दिया। लेकिन इसके बावजूद भी राज्यपाल के.सी. रेड्डी ने मुख्यमंत्री गोविन्दनारायण सिंह को राज्य विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत प्रदर्शित करने की सलाह नहीं दी।

दूसरा उदाहरण बिहार का है। सन् 1967 ई. के आम चुनाव में बिहार में कांग्रेस की पराजय के बाद महामाया प्रसाद सिन्हा के नेतृत्व में विपक्षी दलों का संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल अस्तित्व में आया। लेकिन शीघ्र ही इस संयुक्त मोर्चा सरकार में भी दरारें पड़ गईं। 25 अगस्त, 1967 ई. को सोशलिस्ट नेता बी.पी. मण्डल के नेतृत्व में अनेक विधायक संयुक्त मोर्चे से अलग हो गये। उन्होंने सिन्हा मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द करते हुए अलग से 'शोषित दल' की स्थापना की। राज्य कांग्रेस के नेताओं के लिए इस विपक्षी सरकार को गिराने का यह उपयुक्त अवसर था। अतः उन्होंने बी.पी. मण्डल को वैकल्पिक

सरकार के गठन करने में सहायता देने का निश्चय किया। 8 सितम्बर, 1967 ई. को कांग्रेस विधानमंडलीय दल के नेता महेशप्रसाद सिंह और 'शोषित दल' के नेता बी.पी. मंडल ने राज्य के राज्यपाल से भेंट कर के उनसे यह अनुरोध किया कि कांग्रेस-शोषित दल गठबंधन को राज्य विधानसभा के 318 सदस्यों में से 184 सदस्यों का समर्थन प्राप्त होने से उन्हें राज्य-विधानमंडल में स्पष्ट बहुमत प्राप्त है। अतः सिन्हा-मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर के उसके स्थान पर श्री बी.पी. मंडल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाना चाहिए। इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए मुख्यमंत्री सिन्हा ने कांग्रेस-शोषित गठबंधन के बहुमत के दावे को 'असत्य बताते हुए' विधानसभा में अपने बहुमत के संकल्प को दोहराया। राज्यपाल श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने कांग्रेस-शोषित गठबंधन के दावे को अस्वीकार करते हुए बी.पी. मंडल को मुख्यमंत्री नियुक्त करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि 'विभिन्न दलों की सापेक्ष शक्ति का पता लगाने का उपयुक्त स्थल विधानसभा है, जिसकी यथासमम बैठक होगी।'[1] इस तरह से बिहार के राज्यपाल आयंगर ने मुख्यमंत्री सिन्हा को बदलती हुई राजनैतिक परिस्थिति में शीघ्रातिशीघ्र विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत प्रमाणित करने का निर्देश देने की बाध्यता नहीं समझी।

तीसरे सन् 1969ई.में कांग्रेस-विभाजन के बाद उत्तरप्रदेश में भी ऐसी ही राजनैतिक स्थिति उत्पन्न हुई। राष्ट्रीय स्तर पर इस विभाजन के बाद मुख्यमंत्री चन्द्रभानु गुप्त संगठन कांग्रेस में चले गये। इस पर कमलापति त्रिपाठी के नेतृत्व में कांग्रेस (आर) के समर्थकों ने गुप्त-मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द कर दिया, फलस्वरूप गुप्त-मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। श्री कमलापति त्रिपाठी ने मुख्यमंत्री से त्यागपत्र देने की माँग की। राज्य में राजनैतिक समीकरण बड़ी ही तेजी के साथ बदले। 26 नवम्बर, 1969ई. को कांग्रेस (आर) और चरणसिंह के नेतृत्व वाले भारतीय क्रान्ति दल का नया गठबंधन अस्तित्व में आया। गठबंधन के नेताओं — कमलापति त्रिपाठी और चरणसिंह — ने राज्य के राज्यपाल बी.गोपाल रेड्डी से इस बात का अनुरोध किया कि राज्य-विधानसभा में मुख्यमंत्री अल्पमत में रह गये हैं, अतः विधानसभा का अधिवेशन शीघ्रातिशीघ्र बुलाया जाना चाहिए। दूसरी तरफ मुख्यमंत्री चन्द्रभानु गुप्त ने दावा किया कि भारतीय जनसंघ और संसोपा के उनकी सरकार को समर्थन देने के निर्णय के कारण उन्हें राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है। इस पर मुख्यमंत्री गुप्त से राज्यपाल ने 11 फरवरी, 1970 ई. को राज्य-विधानसभा का अधिवेशन बुलाने की सलाह दी, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर कमलापति त्रिपाठी, और चरणसिंह ने इस समय से पूर्व ही राज्य-विधानसभा का अधिवेशन बुलाने की माँग की थी, जिसे राज्यपाल ने अस्वीकार कर दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने यहाँ तक भी कहा कि वे राज्य-विधानसभा का अधिवेशन बुलाने में अपनी तरफ से कोई पहल नहीं करेंगे।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न राज्यों में राज्यपालों की कार्रवाइयों में एकरूपता का अभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस सम्बन्ध में

राज्यपालों द्वारा समान मापदण्ड नहीं अपनाये जाने के कारण ही अनुचित संवैधानिक विवाद उठ खड़े हुए थे।

विधानसभा के सत्रावसान सम्बन्धी विवाद

सन् 1967 ई. के आम चुनाव के बाद राज्यपालों की विधानसभाओं के सत्रावसान सम्बन्धी भूमिका को लेकर भी पर्याप्त वाद-विवाद हुए। उनकी इस भूमिका पर व्यापक टीका-टिप्पणी भी हुई। विपक्षी दलों द्वारा उन पर यह आरोप भी लगाया गया कि सत्तारूढ़ दल के राजनैतिक-हितों की पूर्ति करने के लिए उन्होंने विधानसभाओं के सत्रावसान की नीति को अपनाया है। दूसरी तरफ राज्यपालों द्वारा यह तर्क दिया गया कि तत्कालीन परिस्थितियों में इसके अलावा और कोई विकल्प शेष नहीं था। इस सम्बन्ध में निम्न मामले विवादास्पद बने — प्रथम, मध्यप्रदेश के राज्यपाल के.सी.रेड्डी द्वारा मुख्यमंत्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र की सलाह पर राज्य-विधानसभा का किया गया सत्रावसान भी आलोचना का विषय बना। 19 जुलाई, 1967 ई. को मध्यप्रदेश में उस समय दल-बदल की घटना घटित हुई, जबकि 36 विधायकों ने कांग्रेस छोड़ कर विपक्ष का साथ देने की घोषणा की। इसके बाद राज्य-विधानसभा में सत्तारूढ़ कांग्रेस और विपक्षी दलों के बीच आरोप-प्रत्यारोप का क्रम प्रारंभ हो गया। 20 जुलाई, 1967 ई. को राज्यपाल के.सी.रेड्डी ने मुख्यमंत्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र की सलाह पर राज्य-विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। 20 जुलाई, 1967 ई. को अपनी प्रेस कांफ्रेंस में राज्यपाल ने कहा— "उसने इस समय राज्य में पिछले कुछ दिनों में उत्पन्न राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुऐ राज्य में प्रजातंत्र के सफल संचालन के लिए विधानसभा का सत्रावसान किया।"[2] राज्यपाल का यह निर्णय विपक्षी दलों को स्तब्ध करने वाला था, क्योंकि उनके अनुसार यह निर्णय मिश्र-मंत्रिमंडल को बचाने के लिए ही किया गया। विपक्ष का यह भी आरोप था कि अनेक विधायकों के कांग्रेस छोड़ने के बाद मुखयमंत्री का सदन में बहुमत नहीं रहा था, अतः राज्यपाल को ऐसे मुख्यमंत्री की सलाह पर विधानसभा का सत्रावसान नहीं करना चाहिए था। लेकिन तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री यशवन्तराव चव्हाण ने राज्यपाल की कार्यवाही का समर्थन करते हुए इसे "संवैधानिक और राजनैतिक दृष्टि "से उचित बताया। दूसरा उदाहरण पंजाब का है। पंजाब में सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व वाली संविद सरकार भी दलबदल का शिकार बन कर धराशायी हो गई। अकाली नेता लक्ष्मणसिंह गिल के नेतृत्व में अनेक सदस्यों के दल बदलने और कांग्रेस द्वारा इन दलबदलुओं को सरकार बनाने में सहायता देने के निर्णय के साथ ही राज्य में 'दलबदलुओं'की सरकार के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हो गया। 25 नवम्बर 1967 ई. को लक्ष्मणसिंह गिल को राज्य के नये मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई। लेकिन पंजाब में शीघ्र ही एक नया संवैधानिक संकट खड़ा हो गया। 6 मार्च, 1968 ई. को पंजाब विधानसभाध्यक्ष जोगिन्दर सिंह मान ने कांग्रेस तथा लक्ष्मणसिंह गिल की जनता पार्टी के 56 सदस्यों द्वारा पेश किये गये अविश्वास-प्रस्ताव से बचने के लिए सदन को दो माह के लिए स्थगित कर दिया। अध्यक्ष की इस व्यवस्था से राज्य में संवैधानिक संकट उपस्थित हो गया। इस समय विधानसभा का बजट अधिवेशन चल रहा था। अतः राज्य का बजट पारित करवाना अपरिहार्य था, अन्यथा राज्य कर्मचारियों को

वेतन मिलना कठिन हो जाता। इस संकट का समाधान करने के लिए अनेक विकल्प सोचे गये। 11 मार्च 1968 ई. को राज्यपाल डॉ. डी.सी. पावटे ने सदन का सत्रावसान कर दिया। 14 मार्च को राज्यपाल ने विधानसभा के सदस्यों को यह सूचना भेजी कि 18 मार्च को विधानसभा की बैठक होगी। इस पर 18 मार्च को विधानसभा का सत्र प्रारंभ हुआ। सदन की कार्यवाही प्रारंभ होते ही विपक्ष के नेता गुरनामसिंह ने एक वैधानिक आपत्ति उठाई कि सत्रावसान के बाद राज्यपाल का विधानसभा का सत्र पुनः बुलाना अवैध है। इस आपत्ति को स्वीकार करते हुए विधानसभाध्यक्ष जोगिन्दर सिंह मान ने सदन को पुनः स्थगित कर दिया। अध्यक्ष के इस निर्णय से सदन में पुनः हंगामेपूर्ण दृश्य सामने आये। इसके पश्चात् राज्य-विधानसभा के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में सन् 1968-69 का बजट तथा विनियोग विधेयक पारित किया गया। राज्यपाल की इस कार्यवाही को पंजाब तथा हरियाणा उच्च न्यायालय में चुनौती दी गई। उच्च-न्यायालय की विशेष खण्डपीठ ने सर्वसम्मति से यह निर्णय दिया कि दोनों विनियोग-विधेयक संविधान के विरुद्ध हैं, अतः ये अवैध हैं। बहुमत के इस निर्णय में यह भी कहा गया कि 13 मार्च का वह अध्यादेश भी अवैध है, जिसके आधार पर विधानसभा के वित्तीय कार्य का विनिमय किया गया। 13 मई, 1968 ई. को पंजाब-हरियाणा उच्च-न्यायालय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की गई। उसी दिन उच्चतम न्यायालय ने उच्च-न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध 'स्थगन' दे दिया। 30 जुलाई, 1968 ई. को उच्चतम न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह निर्णय दिया कि राज्यपाल द्वारा विधानसभा का सत्रावसान करना, और उसे पुनः बुलाना सर्वथा विवेक-सम्मत और उचित था, क्योंकि 'स्थगन' से मुक्ति पाने का यही एक मात्र विकल्प था। अपने निर्णय में न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि विधानसभाध्यक्ष मान को इस प्रकार से विधानसभा को स्थगित करने का अधिकार नहीं था।

तीसरा उदाहरण, उत्तरप्रदेश का है। चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में गठित संयुक्त मोर्चा सरकार भी इसमें शामिल घटक दलों के संघर्ष और खींचतान से सुचारुरूप से कार्य नहीं कर सकी। मुख्यमंत्री की कार्य-शैली को लेकर भारतीय जनसंघ और संसोपा समय-समय पर अपना असंतोष व्यक्त करते रहे। अन्ततोगत्वा संसोपा और भारतीय साम्यवादी दल ने चरणसिंह-मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द कर दिया। इससे चरणसिंह-मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। 9 जनवरी, 1968 को राज्य के राज्यपाल बी.गोपाल रेड्डी ने मुख्यमंत्री चरणसिंह की सलाह पर विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। विधानसभा का सत्र 15 जनवरी, 1968 ई. को प्रारंभ होने वाला था।[3] अल्पमतीय मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल को विधानसभा का सत्रावसान नहीं करना चाहिए था। चौथा उदाहरण हरियाणा का है, जबकि 27 फरवरी, 1970 ई. को मुख्यमंत्री बंसीलाल के विरुद्ध रखे गये अविश्वास प्रस्ताव को राज्य विधानसभाध्यक्ष श्री रणसिंह ने विचारार्थ स्वीकार करके इस पर विचार करने के लिए 3 मार्च का समय निर्धारित किया। लेकिन राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री को प्रस्तावित अविश्वास-प्रस्ताव का सामना करने के लिए बाध्य करने के स्थान पर, 28 फरवरी, 1970 ई. को राज्य-विधानसभा का सत्रावसान कर दिया।[4] हरियाणा के राज्यपाल की कार्यवाही के औचित्य पर प्रश्न-वाचक चिह्न लगना स्वाभाविक ही है। राज्य के राज्यपाल की यह

कार्रवाई मुख्यमंत्री को अविश्वास-प्रस्ताव से बचाने के लिए 'अभयदान' देने वाली थी। हरियाणा में ही नहीं संसद में भी राज्यपाल की यह कार्यवाही निन्दा का पात्र बनी। पाँचवें, जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल भगवानसहाय की कार्यवाही भी व्यापक चर्चा का विषय बनी, जबकि उन्होंने 13 मार्च, 1970 ई. को राज्य के मुख्यमंत्री जी.एम.सादिक की सलाह पर विधानसभा का सत्रावसान कर दिया। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह को उस समय स्वीकार किया, जबकि 35 कांग्रेसी विधायकों ने सादिक से विश्वास वापस लेने का निर्णय किया था।[5] जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की कार्यवाही को भी उचित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विधायकों की इतनी बड़ी संख्या के विद्रोह करने के बाद राज्यपाल के लिए यही उचित था कि वे मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्य-विधानसभा का सत्रावसान करने के स्थान पर उसे राज्य-विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का आदेश देते।

छठे, असम के राज्यपाल ने तो अपने निर्णय से बड़ी ही विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी। 30 मार्च, 1981 ई. को असम में श्रीमती अनवरा तैमूर के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) की सरकार विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) पर हुए मतदान में पराजित हो गई। इस पर राज्यपाल ने विधानसभा का सत्रावसान कर दिया, और आवश्यक व्यय करने हेतु एक अध्यादेश जारी कर दिया। राज्यपाल की यह कार्यवाही किसी भी दृष्टि से संवैधानिक नहीं कही जा सकती है। लोकतांत्रिक परम्पराओं का यही तकाजा था कि विनियोग-विधेयक पर पराजय के पश्चात् मुख्यमंत्री श्रीमती अनवरा तैमूर को मुख्यमंत्री-पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए था। अगर वह त्यागपत्र देने में आनाकानी करतीं तो राज्यपाल को विधानसभा का सत्रावसान करके उसको बचाने के स्थान पर उसे बर्खास्त कर देना चाहिए था।

विधानसभाओं के सत्रावसान के बारे में राज्यपालों की भूमिका का विश्लेषण करते हुए प्रो.जे.आर. सिवाच ने कहा है कि "यथार्थ में राज्यपालों ने न केवल दलबदल को ही नजरअन्दाज कर दिया, अपितु एक कदम आगे बढ़कर सरकारों को अविश्वास-प्रस्ताव से बचाने के लिए विधानसभाओं का ही सत्रावसान कर दिया।"[6] उपर्युक्त सभी मामलों में राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों की सलाह के अनुरूप ही आचरण किया। लेकिन क्या राज्यपाल सभी मामलों में मुख्यमंत्रियों की सलाह के आधार पर ही विधानसभाओं का सत्रावसान करने के लिए बाध्य है? अनेक विधिवेत्ताओं का मत है कि राज्यपाल ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं है। इस मत के समर्थकों में एन.सी.चटर्जी और पीताम्बरदास के नाम उल्लेखनीय हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपालों को इस दिशा में स्पष्ट दिशा-निर्देश दिये जाने चाहिए, ताकि अनावश्यक विवाद उपस्थित न हो सकें।

दिशा-निर्देश अपेक्षित

राज्य-विधानमंडल को आहूत करने और सत्रावसान करने से उत्पन्न हुए विवादों के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में स्पष्ट मापदण्ड अपनाये जाने

चाहिएँ, ताकि राज्यपालों के आचरण पर अनुचित रूप से टीका-टिप्पणी नहीं की जा सके। ये मापदण्ड निम्नलिखित रूप से अपनाये जा सकते हैं—

विधानसभा सत्र आहूत करने के सम्बन्ध में

जहाँ तक किसी राज्यपाल द्वारा विधानसभा के सत्र बुलाने का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में, निम्नलिखित मापदण्ड अपनाये जा सकते हैं —

(1) जहाँ तक संभव हो राज्यपाल को इस सम्बन्ध में वर्णित व्यवस्थाओं के अनुरूप ही आचरण करना चाहिए।

(2) अगर किसी असाधारण स्थिति के उत्पन्न होने के कारण नियत समय से पूर्व भी विधानसभा का सत्र बुलाने की आवश्यकता पड़े तो ऐसा किसी नीति-सम्बन्धी प्रश्न, राष्ट्रीय-संकट, राज्य के हित सम्बन्धी मुद्दे, किसी आपातकालीन स्थिति को दृष्टिगत रखकर ही बुलाया जाना चाहिए अर्थात् अपवाद स्वरूप ही ऐसा किया जाना चाहिए।

(3) दलबदलुओं को मुख्यमंत्री-पद से पुरस्कृत करने या उन्हें सत्ता में लाने के लिए समय से पूर्व विधानसभा का सत्र आहूत नहीं किया जाना चाहिए। अगर दलबदल या दलीय-विद्रोह के कारण राज्य की राजनैतिक स्थिति में कोई घटना भी घटित हो जाये तो भी राज्यपाल को निर्धारित समय से पूर्व मुख्यमंत्री को विधानसभा का सत्र बुलाने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। अनेक राज्यों में राज्यपालों की कार्यवाहियों का अध्ययन करने से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थिति में जहाँ भी मुख्यमंत्रियों को निर्धारित समय से पूर्व विधानसभा का सत्र बुलाकर बहुमत सिद्ध करने का आदेश दिया गया, उसकी परिणति के रूप में उन राज्यों में अल्पमतीय दलबदलुओं के मंत्रिमंडलों की सत्ता में प्रतिष्ठा थी। इससे राज्यों का राजनीतिक-वातावरण और भी अधिक दूषित हो गया। अनेक राज्यों में अवांछनीय सांविधानिक-संकट भी उपस्थित हुए। अतः राज्यपालों को दलबदलुओं की शक्ति को भी कसौटी पर कसना चाहिए। अगर दलबदलुओं या दलीय विद्रोहियों के पीछे वास्तविक शक्ति होगी तो उनका विरोध कायम रह जायेगा अन्यथा समय बीतने के साथ विद्रोह का स्वर भी शांत हो जायेगा, इससे राज्य में राजनीतिक-स्थिरता को बल मिलेगा। ऐसी स्थिति में किसी राज्यपाल की भूमिका पर अनुचित टीका-टिप्पणी भी नहीं की जा सकेगी।

(4) अगर किसी मुख्यमंत्री के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव विचाराधीन हो, और वह विधानसभा का सत्र बुलाने में आनाकानी करे तो राज्यपाल को उसे विधानसभा का सत्र बुलाने के लिए बाध्य करना चाहिए। इसके बाद भी अगर वह इसके लिए तैयार नहीं हो तो राज्यणल को "संवैधानिक प्रावधानों" के अनुरूप उसके विरुद्ध कदम उठाने चाहिए।

(5) अगर विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को सबसे बड़े दल के नेता या सबसे बड़ी संख्या वाले दल के नेता या सर्वाधिक विधायकों के समर्थन का दावा करने वाले व्यक्ति को मुख्यमंत्री के रूप में

नियुक्त कर के उसे विधानसभा का सत्र शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का निर्देश देना चाहिए।

विधानसभा के सत्रावसान के सम्बन्ध में

सत्रावसान के सम्बन्ध में भी निम्नलिखित दिशा-निर्देश काफी उपयोगी और कारगर सिद्ध हो सकते हैं —

(1) जहाँ तक संभव हो सके, राज्यपाल को संविधान में वर्णित संवैधानिक-प्रावधानों के अनुरूप ही विधानसभा का सत्रावसान करना चाहिए। इससे अवांछनीय विवाद खड़े नहीं होते हैं।

(2) अगर किसी मुख्यमंत्री के विरुद्ध विधानसभा में अविश्वास-प्रस्ताव विचाराधीन हो तो उसका मुकाबला करने से पूर्व ही उसकी सिफारिश पर विधानसभा का सत्रावसान नहीं करना चाहिए।

(3) किसी भी अल्पमतीय विधानसभा में पराजित, या विधानसभा में संदिग्ध बहुमत रखने वाले मुख्यमंत्री की सलाह पर विधानसभा का सत्रावसान नहीं किया जाना चाहिए।

(4) राज्यपाल को अपनी कार्यवाही से कभी ऐसा आभास नहीं होने देना चाहिए कि उसने किसी मुख्यमंत्री, या किसी दल विशेष की सरकार को अपदस्थ होने से बचाने या उसकी सत्ता को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से विधानसभा का सत्रावसान किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों को राज्य विधानसभा का सत्र बुलाने और सत्रावसान करते समय दूरदर्शिता और विवेक से काम लेकर अनावश्यक विवादों से बचना चाहिए।

संदर्भ

1. काश्यप, डॉ.सुभाष; दलबदल और राज्यों की राजनीति (मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, 1970) पृष्ठ 222
2. पाराशर, एच.सी.,भारत में वर्तमान स्थिति 2 राज्यपाल का पद एवं उथल-पुथल की राजनीति, (पी.एस.पब्लिकेशन्स, भोपाल, 1986) पृष्ठ 248
3. पाण्डेय, लल्लन बिहारी; दि स्टेट एक्जीक्यूटिव (अमर प्रकाशन, दिल्ली, 1984) पृष्ठ 179
4. दहिया, एम.एस; ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया; (ए क्रिटिकल कमेन्टरी) (संदीप प्रकाशन, दिल्ली,,1979) पृष्ठ 130
5. तत्रैव. पृष्ठ 131-132
6. सिवाच, जे.आर; डायनेमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स (स्टर्लिंग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1985) पृष्ठ 133

अध्याय -15

अभिभाषण की राजनीति

भारतीय संविधान का स्वरूप ब्रिटिश संविधान से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। ब्रिटेन में आम चुनाव के बाद सम्राट अथवा महारानी द्वारा संसद के दोनों सदनों (हाउस ऑफ कामन्स तथा हाउस ऑफ लार्ड्स) के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित किया जाता है। उसकी अनुपस्थिति में लार्ड कमिश्नर्स द्वारा भी यह अभिभाषण पढ़ा जा सकता है। भारत में भी ब्रिटिश संसदीय परम्परा के अनुरूप ही संघ के राष्ट्रपति को इस बात की शक्ति प्रदान की गई कि वह आम चुनाव के बाद गठित संसद के दोनों सदनों (लोकसभा और राज्यसभा) के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करें। वह वर्ष के प्रथम सत्र में भी संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पढ़ता है। संघ की भाँति राज्यों में राज्यपालों को भी इस सम्बन्ध में शक्ति प्रदान की गई है।[1] इस तरह से अभिभाषण के सम्बन्ध में ब्रिटिश परम्परा को ही स्वीकार किया गया है।

संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 176(1) के अन्तर्गत यह उल्लेख किया गया है कि राज्यपाल आम चुनाव के बाद और वर्ष के प्रथम सत्र में राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों (विधानसभा और विधानपरिषद्) को संयुक्त रूप से सम्बोधित करेगा। जहाँ विधानपरिषद् का अस्तित्व नहीं है, वहाँ राज्यपाल केवल विधानसभा को ही सम्बोधित करता है। जब राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक होती है तो उसका संचालन करने का अधिकार दोनों सदनों के सभापतियों में से किसी को भी नहीं होकर राज्यपाल को होता है। राज्यपाल-अभिभाषण, राज्य मंत्रिपरिषद् की नीतियों का प्रतीक होता है, क्योंकि इसमें राज्य-मंत्रिपरिषद् की नीतियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है। अतः इसको राज्यपाल द्वारा तैयार नहीं करवाया जाता है, अपितु राज्य मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किया जाता है। इसे राज्य-मंत्रिपरिषद् द्वारा स्वीकार कर लेने के बाद ही राज्यपाल के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। इसमें राज्य-मंत्रिपरिषद् की नीतियों और उपलब्धियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है। राज्यपाल को इस अभिभाषण में न तो कोई संशोधन करने

का ही अधिकार होता है, और न ही वह इसमें कोई अन्य अंश अपनी तरफ से जोड़ ही सकता है। राज्यपाल-अभिभाषण में उल्लिखित सभी बातों के लिए राज्य-मंत्रिपरिषद् ही उत्तरदायी होती है। अतः यदि वह अभिभाषण के धन्यवाद-प्रस्ताव पर राज्य विधानसभा में पराजित हो जाती है, अथवा उसमें विपक्ष का कोई संशोधन प्रस्ताव पारित हो जाता है तो इसे राज्य-मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव की तरह ही माना जाता है। ऐसी स्थिति में राज्य-मंत्रिपरिषद् के सामने त्यागपत्र देने के अलावा और कोई विकल्प शेष नहीं रहता है। लेकिन इससे राज्यपाल की स्थिति अप्रभावित रहती है। राज्यपाल, अभिभाषण में निहित तथ्यों के अलावा और कोई भी बात पढ़ने के लिए स्वतंत्र नहीं है। इसके अलावा पढ़ी हुई बात को अप्रासंगिक करार दिया जाता है।

सामान्यतः राज्यपाल ही राज्य-विधानमंडल में अपना अभिभाषण पढ़ता है। राज्यपाल राज्य-विधानमंडल में अभिभाषण को पूरा पढ़ता है। लेकिन उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह इसको प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पढ़े। वह इसका प्रारम्भ और इसके बाद इसका अंतिम अंश पढ़कर भी इसे समाप्त कर सकता है। इतना ही नहीं वह अभिभाषण की प्रति सदन के पटल पर रखकर भी अपने संवैधानिक-दायित्व को पूरा कर सकता है। ऐसी स्थिति में भी राज्यपाल-अभिभाषण को पूरा पढ़ा हुआ मान लिया जाता है। राज्यपाल-अभिभाषण सम्बन्धी प्रक्रिया का निर्धारण करने और सदन की बैठक का सचालन करने का दायित्व राज्यपाल का होता है। अतः वे ही इसमें विघ्न उपस्थित करने वाले, अशोभनीय व्यवहार करने वाले तथा गरिमा के प्रतिकूल व्यवहार करने वाले विधायकों को कुछ समय के लिए अथवा विधानमंडल के सम्पूर्ण सत्र की अवधि के लिए सदन से निलम्बित कर सकते हैं।

राज्यपाल-अभिभाषण पर राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों में पृथक्-पृथक् रूप. से खुली और व्यापक चर्चा होती है। सत्ता पक्ष और विपक्षी विधायकों के बोलने का समय निश्चित होता है। इसके बाद सत्ता पक्ष के एक सदस्य द्वारा प्रस्तावित और दूसरे सदस्य द्वारा अनुसमर्थित धन्यवाद-प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है। विपक्ष द्वारा इसमें संशोधन-प्रस्ताव भी प्रस्तावित किये जा सकते हैं। इस पर राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों में पृथक्-पृथक् रूप से मतदान होता है। इसके बाद इस प्रस्ताव के पास होने का प्रमाण-पत्र विधानसभा में अध्यक्ष द्वारा और विधानपरिषद् में सभापति द्वारा दिये जाने पर ही इसे मान्य समझा जाता है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल अभिभाषण की एक निश्चित संवैधानिक प्रक्रिया है।

एकरूपता का अभाव

स्वतंत्रता से लेकर अब तक, विभिन्न राज्यों के राज्यपालों के आचरण और कार्य-शैली को देखने से यह पता चलता है कि उन्होंने अभिभाषण सम्बन्धी प्रक्रिया में समान मापदण्डों को नहीं अपनाया। उनके द्वारा एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न मापदण्ड अपनाये गये। इतना ही नहीं कतिपय राज्यपालों द्वारा विधानसभाओं में पढ़े गये अभिभाषणों की सांविधानिकता को ही न्यायपालिका में चुनौती भी दी गई। राज्य-विधानमंडलों में

राज्यपाल-अभिभाषण के समय शोरगुल करना और सदन में अव्यवस्था उत्पन्न कर के इसकी कार्य-विधि में बाधा उत्पन्न करना एक सामान्य सी बात हो गई है। इतना ही नहीं अनेक विधानसभाओं में तो विपक्षी नेताओं द्वारा 'समानान्तर अभिभाषण' तक पढ़े गये। इसके अलावा अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं, जबकि राज्यपालों को अपना अभिभाषण पढ़े बिना ही या उनको अधूरा पढ़े बिना बीच में ही सदन का परित्याग करना पड़ा। इस प्रश्न पर राज्यपाल और राज्य-मंत्रिपरिषद् के बीच संघर्ष की स्थिति भी उत्पन्न हो गई। सन् 1967 ई. के बाद तो यह प्रश्न भी एक महत्त्वपूर्ण सांविधानिक-विवाद का प्रश्न बन गया। राज्यपाल-अभिभाषण के सन्दर्भ में निम्नलिखितत विवादास्पद परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं—

(1) राज्यपाल द्वारा सदन से सदस्यों का निष्कासन करने के निर्णय पर विवाद

फरवरी, 1966 ई. में राजस्थान के राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने अपने अभिभाषण के समय सदन में अव्यवस्था फैलाने वाले विपक्ष के 12 सदस्यों को स्वयं ही विधानसभा से निष्कासित करने का आदेश दिया। ये सदस्य संसोपा, भारतीय साम्यवादी दल और निर्दलीय गुट का प्रतिनिधित्व करते थे। सदन से निष्कासन का आदेश देने के पूर्व राज्यपाल ने इन सदस्यों से बार-बार शांत रहने का अनुरोध किया था।[2] 2 मार्च, 1966 ई. को लोकसभा में हुई बहस में विपक्षी दलों के सदस्यों ने राज्य के राज्यपाल के आचरण की निन्दा करते हुए कहा कि राज्यपाल ने संविधान की भावना के विरुद्ध कार्य किया है। राज्यपाल की कार्यवाही को राजस्थान उच्च न्यायालय में भी चुनौती दी गई। योगेन्द्रनाथ हांडा बनाम राजस्थान राज्य नामक विवाद में राजस्थान उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के निर्णय के विरुद्ध दायर याचिका को निरस्त कर दिया।[3] राज्यपाल के निर्णय को राज्य-विधानसभा की विशेषाधिकार समिति के विचारार्थ भी सुपुर्द किया गया। अपने निर्णय में भी समिति ने राज्यपाल द्वारा किये गये 12 सदस्यों के निष्कासन की कार्रवाई को उचित ही ठहराते हुए यह व्यवस्था दी कि ऐसा कर के राज्यपाल ने अपनी संवैधानिक सीमा में रहकर ही आचरण किया है।[4] जहाँ तक राजस्थान के राज्यपाल के आचरण की संवैधानिकता का प्रश्न है, राज्यपाल का निर्णय पूर्णतया सही था। राज्यपाल-अभिभाषण के समय राज्य-विधानमंडल का संचालन राज्यपाल द्वारा किया जाता है। जब निष्कासित किये जाने वाले विधायकों ने विधानसभा में शांत रहने की राज्यपाल की अपील के बावजूद भी अपने को नियंत्रित करने का प्रयास नहीं किया, तो राज्यपाल के सम्मुख इसके अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रह गया था कि वे सदन की कार्यवाही में बाधा उपस्थित करने वाले विधायकों को सदन से निष्कासित करने का आदेश देते। अगर राज्यपाल इतना दृढ़तापूर्वक कदम नहीं उठाते तो सदन को ही स्थगित करना पड़ता, जिससे बजट-सत्र के प्रारम्भ होने में बाधा उपस्थित होती। लोकतंत्र में विपक्ष को सत्तारूढ़ दल का संवैधानिक तरीकों से विरोध करने का पूर्ण अधिकार होता है, और वह अभिभाषण पर होने वाली बहस में प्रभावशाली रूप से भाग लेकर अपने आक्रोश को अभिव्यक्त भी कर सकता है। लेकिन उसे इस तरह के आचरण करने का अधिकार देना वांछनीय नहीं होता है। अतः उस समय विपक्षी-विधायकों के आचरण को उचित नहीं ठहराया जा सकता था। उनका निष्कासन कर के राज्यपाल ने अपने संवैधानिक-दायित्वों को ही पूरा किया था।

(2) राज्यपालों द्वारा अपने अभिभाषण पूरे नहीं पढ़े जाना

संविधान की भावना से तो यही परिलक्षित होता है कि राज्यपालों को सदन में अपने अभिभाषण अक्षरतः और पूरे पढ़ने चाहिएँ। लेकिन अनेक अवसरों पर राज्यपाल सदन में घोर-अव्यवस्था और अराजकता के वातावरण के कारण अपने अभिभाषण पूरे नहीं पढ़ सके। अनेक बार तो उन्होंने इनके कुछ अंश स्वयं पढ़कर शेष को पढ़ने का उत्तरदायित्व विधानसभाध्यक्षों पर छोड़ दिया। इतना ही नहीं कतिपय मामलों में तो राज्यपालों ने अभिभाषण के प्रारम्भ और बाद के कुछ अंशों को पढ़कर ही, उनकी प्रति सदन के पटल पर रखकर सदन का परित्याग कर दिया। इससे इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही था कि क्या राज्यपालों ने अपने संवैधानिक-दायित्वों का पूरी तरह से निर्वाह किया है? क्या राज्यपालों द्वारा पढ़े गये अधूरे-अभिभाषणों को ही संविधान-सम्मत मान लिया जाये? और, क्या राज्य-मंत्रिपरिषद् उसे पूरा अभिभाषण पढ़ने के लिए बाध्य कर सकती है? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मुख्य उदाहरण गिनाये जा सकते हैं—

प्रथम, 8 फरवरी, 1965 ई. को पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल कु. पद्मजा नायडू ने शोरगुल और हंगामे के कारण राज्य-विधानमंडल में अपना अभिभाषण पूरा पढ़े बिना ही उसका परित्याग कर दिया। उन्होंने अपने अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़कर, शेष भाग को बिना पढ़े ही, उसकी प्रति सदन के पटल पर रखकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी। इसने राज्य में सांविधानिक-बहस को जन्म दिया। जब राज्य-विधानसभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ तो विपक्ष के नेता ने विधानसभाध्यक्ष की संवैधानिक स्थिति को चुनौती देते हुए कहा कि क्योंकि राज्यपाल ने अपना अभिभाषण ही नहीं पढ़ा है, अतः विधानसभा का अधिवेशन ही प्रारम्भ नहीं हुआ है। सदन में अध्यक्ष और विपक्ष के बीच इस पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ। इस मामले पर अपनी व्यवस्था देते हुए विधानसभाध्यक्ष ने कहा कि राज्यपाल दोनों सदनों की संयुक्त-बैठक में अपना अभिभाषण पढ़ चुके हैं, चाहे परिस्थितिवश ही उन्होंने अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ा हो।[5] राज्यपाल-अभिभाषण की सांविधानिकता को कलकत्ता उच्च-न्यायालय में चुनौती दी गई। सैय्यद मंसूर हबीबुल्ला बनाम पश्चिमी बंगाल विधानसभाध्यक्ष वाले मामले में अपना निर्णय देते हुए न्यायालय ने राज्यपाल-अभिभाषण को वैध करार दिया।[6] न्यायालय के मत में यदि राज्यपाल किसी कारण अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके, तो उसके द्वारा सदन के पटल पर प्रति रख देने मात्र से ही उसका यह सांविधानिक-दायित्व पूरा हो जाता है।

द्वितीय, राजस्थान में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई, जबकि 26 फरवरी, 1966 ई. को राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानंद सदन में कतिपय विपक्षी सदस्यों के द्वारा किये गये अभूतपूर्व हंगामे और घोर-अराजकता के कारण अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके। उन्होंने अभिभाषण का प्रथम और अंतिम वाक्य पढ़कर ही इसकी प्रति सदन के पटल पर रखकर सदन का परित्याग कर दिया।[7] विपक्ष के अनेक सदस्यों ने यह तर्क दिया कि राज्यपाल ने अपना अभिभाषण नहीं पढ़ा है। इस विवाद पर अपनी व्यवस्था देते हुए राज्य-विधानसभा के अध्यक्ष ने यह व्यवस्था दी कि राज्यपाल की सदन में उपस्थिति मात्र से संविधान के अनुच्छेद 176 में अपेक्षित सभी अर्हताएँ पूरी हो गई हैं। योगेन्द्रनाथ हांडा बनाम राजस्थान

राज्य विवाद में अपना निर्णय देते हुए राजस्थान उच्च न्यायालय ने राज्यपाल-अभिभाषण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण व्यवस्था देते हुए कहा कि "यद्यपि राज्यपाल-अभिभाषण की प्रक्रिया के अभाव में राज्य-विधानमंडल की कार्यवाही को वैधानिक नहीं माना जा सकता है, लेकिन अगर राज्यपाल अभिभाषण पढ़ने सदन में तो जाता है, लेकिन परिस्थितिवश अपना अभिभाषण पढ़ने में असमर्थ रहता है, तो उसके द्वारा अपने अभिभाषण की प्रति सदन के पटल पर रख देने मात्र से ही यह औपचारिकता संपन्न हुई मान ली जानी चाहिए।"

तृतीय, पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल श्री धर्मवीर को भी उनके द्वारा श्री अजय मुखर्जी के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी के निर्णय के कारण संयुक्त मोर्चे के सदस्यों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। 14 फरवरी, 1968 ई. को राज्यपाल को डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किया गया अभिभाषण राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में संयुक्त रूप से पढ़ना था। संयुक्त मोर्चे के सदस्य सदन में राज्यपाल का प्रबलतम विरोध करने के लिए कटिबद्ध थे। वे सदन में राज्यपाल को प्रवेश ही नहीं करने देना चाहते थे, और इसी उद्देश्य से उन्होंने सदन के मुख्य द्वार को घेर रखा था। अतः राज्यपाल को बाध्य होकर बगल के द्वार से प्रवेश करना पड़ा। राज्यपाल के सदन में प्रवेश करते ही अभूतपूर्व शोर-शराबा हुआ। इस वातावरण में उन्होंने अपने अभिभाषण का बहुत थोड़ा अंश पढ़कर पीछे के द्वार से सदन का परित्याग कर दिया। इस घटनाचक्र का सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह था कि राज्यपाल पर प्रहार भी किया गया। विधानमंडल में सदस्यों के प्रदर्शन के कारण उनको चोट भी आ गई थी। मुख्यमंत्री के अनुसार विरोधी दल के कुछ सदस्यों ने राज्यपाल पर प्रहार करने का जान-बूझकर प्रयत्न किया था और यदि उनके एडी.सी. तथा प्रगतिशील लोकतांत्रिक मोर्चे तथा कांग्रेस के विधायक उनकी रक्षा न करते तो उन्हें गंभीर चोट आ सकती थी।[8] असंसदीय आचरण की यह पराकाष्ठा थी, जबकि राज्य-विधानमंडल के उत्तरदायी सदस्यों द्वारा किसी राज्यपाल को आघात पहुँचाने का प्रयत्न किया गया हो। किसी भी लोकतांत्रिक देश में इस तरह की घटना को समर्थन नहीं दिया जा सकता है।

चतुर्थ, 14 अगस्त, 1969 ई. को आन्ध्र-प्रदेश के राज्यपाल श्री खण्डूभाई देसाई को भी पृथक् तेलंगाना राज्य के पक्षधर सदस्यों के प्रबल प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। सदन में अव्यवस्था के कारण राज्यपाल ने अपना अभिभाषण बीच में ही पढ़ना छोड़कर यह कहते हुए सदन का परित्याग कर दिया कि उनका अभिभाषण पढ़ा हुआ मान लिया जाये। सदन का परित्याग करते हुए उन्होंने अपना अभिभाषण सदन के पटल पर रख दिया था। राज्यपाल की यह कार्यवाही संविधान-सम्मत ही थी। इस तरह के हंगामेपूर्ण वातावरण में राज्यपाल के सम्मुख और कोई दूसरा विकल्प ही शेष नहीं रह गया था।

पंचम्, समय-समय पर उत्तरप्रदेश के राज्यपाल भी सदन में हंगामे और शोर-शराबे के कारण अपना अभिभाषण नहीं पढ़ सके। निम्नलिखित मामलों में ऐसा हुआ — प्रथम, 19 मार्च, 1974 ई. को भी राज्य के राज्यपाल अभूतपूर्व शोर-शराबे के कारण अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके। द्वितीय, 17 मार्च, 1978 ई. को राज्यपाल राज्य-विधानमंडल

में अवांछनीय स्थिति के कारण अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके। तृतीय, 1 फरवरी, 1983 ई. को भी राज्यपाल इसी कारण से अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके, और उन्होंने विधानसभाध्यक्ष को शेष भाग पढ़ने का निर्देश दिया। चतुर्थ, 13 फरवरी, 1984 ई. को भी राज्यपाल सदन में घटित घोर-अव्यवस्था के कारण अपना पूरा अभिभाषण नहीं पढ़ सके, और उन्होंने विधानसभाध्यक्ष को अपना शेष अभिभाषण पढ़ने के लिए कहा। फलस्वरूप विधानसभाध्यक्ष ने उसका शेष भाग पढ़ा। और अन्त में, 6 फरवरी, 1986 ई. को भी उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री मोहम्मद उस्मान आरिफ राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों में अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके। इसकी पूरी पृष्ठभूमि जानना आवश्यक है। उत्तरप्रदेश के विपक्षी दलों द्वारा सरकार का विधानसभा की बैठक शीघ्र बुलाने के लिए आन्दोलन का सहारा लिया गया। 22 नवम्बर, 1985 ई. को विपक्षी दलों द्वारा राज्यपाल को दिये गये ज्ञापन में गन्ने का दाम तय किए जाने, धान के समर्थन मूल्य कम रखने और खरीद की समुचित व्यवस्था न किए जाने, सरकारी और स्वायत्तशासी संस्थाओं के चुनाव स्थगित किये जाने, केन्द्र सरकार की नई टेक्सटाइल नीति से प्रदेश के बुनकरों के समक्ष भुखमरी का संकट उपस्थित होने, धनाभाव के कारण जिलों में विकास कार्य अवरुद्ध होने, बाढ़ राहत में ढिलाई बरतने और कई अध्यादेश जारी किए जाने के प्रश्न पर विचार के लिए विधानसभा का अधिवेशन अविलम्ब बुलाये जाने की माँग की।[9] दूसरी ओर राज्य के मुख्यमंत्री श्री वीर बहादुर सिंह ने यह कहते हुए इस माँग को ठुकरा दिया कि (1) विधानसभा का पिछला सत्र अभी 5 सितम्बर को समाप्त हुआ है, इसलिए अभी अधिवेशन बुलाने की कोई जल्दी नहीं है। संविधान के अनुसार दो अधिवेशनों के बीच छह महीने तक का अन्तराल हो सकता है। (2) अभी सरकार के पास ऐसा कोई काम नहीं है कि विधानसभा बुलाई जाए, और (3) वह चाहते हैं कि इस बार बजट 31 मार्च तक पारित कर दिया जाए, ताकि विभिन्न विभागों को समय से धन उपलब्ध कराया जा सके। इसलिए वह जनवरी के आखिरी हफ्ते में विधानसभा की बैठक बुलाने की सिफारिश कर रहे हैं।[10] उन्होंने विधानसभा के संक्षिप्त-सत्र बुलाने की विपक्ष की माँग को ठुकरा दिया। इस पर विपक्षी दलों ने आन्दोलनात्मक रवैया अपनाया। उन्होंने राजभवन पर धरना दिया। 24 दिसम्बर, 1985 ई. को राजभवन पर दिये गये धरने के दौरान 94 विधायकों को गिरफ्तार किया गया। गिरफ्तार किये जाने वाले विधायक राज्यपाल मोहम्मद उस्मान आरिफ से माँग कर रहे थे कि वे आकर उनसे मिलें। उसी दिन विपक्षी दलों ने यह निर्णय लिया कि वे राज्यपाल को सदन में प्रवेश करने से रोकेंगे। विपक्ष के नेता श्री मुलायमसिंह यादव ने कहा कि वे राज्यपाल को सदन में घुसने से रोकने की हरचंद कोशिश करेंगे, क्योंकि राज्यपाल ने लोकतांत्रिक मापदण्ड का पालन नहीं किया। विपक्ष सिर्फ उनसे विधानसभा की बैठक बुलाने की माँग कर रहा था।[11] इससे उत्तरप्रदेश में राजनीतिक गत्यवरोध उत्पन्न हो गया। इसको समाप्त करने के लिए 5 जनवरी, 1986 ई. को उत्तरप्रदेश के राज्यपाल द्वारा बुलाई गई बैठक में विधानसभाध्यक्ष नियाज हसन, विधानपरिषद् के अध्यक्ष वीर बहादुर सिंह चन्देल, मुख्यमंत्री वीर बहादुर सिंह, स्वास्थ्य

मंत्री लोकपति त्रिपाठी, संसदीय मामलों के मंत्री हुकम सिंह, उत्तरप्रदेश के मुख्य सचिव, विपक्ष के नेता मुलायम सिंह यादव और जनता पार्टी, भाजपा, भारतीय साम्यवादी दल, और कांग्रेस (जे) के नेताओं, क्रमशः — सर्वश्री रेवती रमणसिंह, कल्याणसिंह, रामचन्द बख्शसिंह एवं रमाशंकर कौशिक ने भाग लिया। जहाँ एक ओर विपक्षी नेताओं का कहना था कि राज्यपाल ने विधायकों को हुए कष्ट के लिए खेद व्यक्त किया है, वहाँ दूसरी ओर विधानसभाध्यक्ष का कहना था कि इस बैठक के बाद दोनों पक्षों में सभी गलतफहमी दूर हो गई हैं।[12] इसके पूर्व विपक्षी विधायकों ने राज्यपाल से मिलने से इन्कार कर दिया था। 16 जनवरी, 1986 ई. को राज्य-विधानसभा के आगामी बजट सत्र में सरकार एवं विपक्ष के बीच सीधा टकराव रोकने की सभी कोशिशें असफल हो गईं। विपक्षी दल राज्यपाल को बजट सत्र का उद्‌घाटन करने के लिए विधानसभा भवन में प्रवेश नहीं करने देने की घोषणा कर चुके थे। विपक्षियों ने कहा कि वे राज्यपाल का घेराव करेंगे और उन्हें विधानमंडल में अभिभाषण नहीं देने देंगे। इसके पूर्व 15 जनवरी, 1986 ई. को विधानसभाध्यक्ष श्री नियाज हसन ने इस मामले पर विचार करने के लिए विपक्षी नेताओं तथा मुख्यमंत्री श्री वीर बहादुरसिंह की एक बैठक बुलाई थी। लेकिन विपक्षी नेता अपना प्रस्तावित आन्दोलन वापस लेने को तैयार नहीं हुए। 14 जनवरी को मुख्यमंत्री श्री वीर बहादुरसिंह ने भी इस मामले में विपक्षी नेताओं से बातचीत की। लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। विपक्षी नेताओं की माँग थी कि सरकार को सार्वजनिक महत्त्व के विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिए विधानसभा का एक संक्षिप्त सत्र बुलाना चाहिए था। मुख्यमंत्री ने विपक्षी नेताओं से अपील की कि वे राज्यपाल का घेराव न करें, क्योंकि राज्यपाल पार्टी से ऊपर होता है, और उसका राजनीति से कोई मतलब नहीं होता है।[13] इतना ही नहीं विपक्षी दलों ने राज्यपाल से सार्वजनिक रूप से क्षमा माँगने की माँग भी की।[14]

6 फरवरी, 1986 ई. को उत्तरप्रदेश विधानमंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में राज्यपाल श्री मोहम्मद उस्मान आरिफ द्वारा अभिभाषण पढ़ते समय विपक्ष द्वारा हंगामापूर्ण वातावरण उत्पन्न कर दिया गया। ज्यों ही राज्यपाल ने सदन में प्रवेश किया कि विपक्षी सदस्यों ने अपने-अपने स्थानों पर खड़े होकर 'राज्यपाल वापस जाओ' के नारे लगाने प्रारम्भ कर दिये — इसके बाद सभी विपक्षी विधायक सदन से 'वाकआउट' कर के चले गये। इस हंगामेपूर्ण वातावरण में राज्यपाल विधानमंडल में अपने अभिभाषण का प्रथम और अंतिम पैराग्राफ ही पढ़ पाये।[15] इस सम्बन्ध में उत्तरप्रदेश के सभी राज्यपालों के ये निर्णय संवैधानिक ही थे।

षष्ठ, 20 जनवरी, 1986 ई. को राजस्थान के राज्यपाल श्री बसन्तराव पाटिल का राज्य-विधानसभा में पढ़ा गया अभिभाषण भी अच्छे-खासे विवाद का विषय बन गया। इस अभिभाषण को सदन के पटल पर रखने के सवाल पर लगभग पौन घन्टे तक सदन में रोचक कानूनी बहस होती रही। बाद में विधानसभाध्यक्ष ने इस आपत्ति को निरस्त कर दिया। दरअसल, राज्यपाल ने अपने अभिभाषण के प्रारम्भिक दो पृष्ठ तथा आखिरी पृष्ठ ही पढ़ा था। इस बीच का हिस्सा संभवतः इसलिए नहीं पढ़ा क्योंकि सत्तारूढ़ कांग्रेस(इ)

दल के मुख्य सचेतक श्री बुलाकीदास कल्ला ने उन्हें उनके स्वास्थ्य का ध्यान करते हुए ज्यादा न पढ़ने का अनुरोध किया था। यही बात सदन में एक बड़ी बहस का मुद्दा बन गई। इस मुद्दे को उठाया था राज्य-विधानसभा में विपक्ष के नेता श्री भैरोंसिंह शेखावत ने। विधानसभा के सचिव ने ज्यों ही अभिभाषण की प्रति सदन के पटल पर रखनी चाही, श्री शेखावत ने आपत्ति की। श्री शेखावत के अनुसार अभिभाषण के समय श्री कल्ला ने राज्यपाल की अस्वस्थता को देखते हुए आगे का अभिभाषण पढ़े बिना ही पढ़ा हुआ मान लेने का प्रस्ताव किया था। नियमों के मुताबिक ऐसे किसी प्रस्ताव पर या तो राज्यपाल कोई फैसला लेते या फिर सदन उस प्रस्ताव पर अपनी सहमति देता, मगर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। राज्यपाल ने न तो खुद को अस्वस्थ माना और न ही अपना अभिभाषण पढ़ा हुआ मान लेने की बात कही। विपक्ष के नेता के अनुसार ऐसी स्थिति में राज्यपाल के समूचे अभिभाषण को पढ़ा हुआ नहीं माना जा सकता तथा सदन में उनके अभिभाषण की जो प्रति रखी जा रही है, उसमें सिर्फ प्रारम्भ के दो तथा आखिरी का एक ही पृष्ठ वास्तव में राज्यपाल ने पढ़े। श्री शेखावत का कहना था कि सदन में दो ही परिस्थितियों में राज्यपाल का अभिभाषण बिना पढ़े ही मान लिया जाता है— या तो सदन में व्यवधान हो या फिर राज्यपाल अस्वस्थ हो। आज न तो सदन में कोई व्यवधान था और न ही राज्यपाल महोदय ने अपनी अस्वस्थता का जिक्र किया। विधि मंत्री श्री हीरालाल देवपुरा ने श्री शेखावत की इस आपत्ति को निराधार बताते हुए विधानसभा में उस घटना का उदाहरण दिया, जिसमें पश्चिमी बंगाल की पद्मजा नायडू सदन में अपना अभिभाषण नहीं पढ़ पाई थीं और अन्ततः उच्च न्यायालय ने उनके अभिभाषण को पढ़ा हुआ मान लेने का फैसला दिया था। श्री देवपुरा के अनुसार जिस समय राज्यपाल सदन में अभिभाषण देता है, सदन के रूप में नहीं सभा के रूप में बैठता है, और यहाँ विधानसभा के कार्य प्रक्रिया संचालन सम्बन्धित नियम लागू नहीं होते हैं। श्री शेखावत उनकी बात से सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा कि सत्तारूढ़ दल ने राज्यपाल पर जबरदस्ती बीमारी थोपने की कोशिश की है। श्री हरिशंकर भाभड़ा (भाजपा) ने कहा कि यह राज्यपाल की छवि बिगाड़ने का प्रयास है। कांग्रेस (इ) के महारावल श्री लक्ष्मणसिंह ने सुझाव दिया कि इस मसले को राज्यपाल के समक्ष भेजा जाना चाहिए। वे ही बतायें कि उनके भाषण को पढ़ा हुआ माना जाय या नहीं। श्री शेखावत ने कहा कि 'मुझे इस बात पर कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु सरकार की तरफ से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई है।' भाजपा के श्री भंवरलाल शर्मा ने आशंका व्यक्त की कि सम्भवतः राज्यपाल राज्य सरकार द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के उन अंशों को पढ़ना ही नहीं चाहते होंगे, जिनमें सरकार का गुणगान किया गया है।

— कुल मिलाकर इस मामले पर पौन घण्टे तक बहस चलती रही। श्री शेखावत अपने मुद्दे पर अड़े रहे। अन्ततः विधानसभाध्यक्ष श्री गिरिराजप्रसाद तिवारी ने राज्य-विधानसभा में सन् 1975 ई. में पैदा हुए इसी ढँग के विवाद में तत्कालीन अध्यक्ष द्वारा दी गई एक व्यवस्था पढ़कर सुनाई। इस व्यवस्था के अनुसार राज्यपाल भले कितने ही पृष्ठ पढ़ें, उसका समूचा अभिभाषण पढ़ा हुआ ही माना जाता है। इस व्यवस्था के आधार पर श्री तिवारी ने श्री शेखावत की सभी आपत्तियाँ निरस्त कर दीं। अध्यक्षीय व्यवस्था के बावजूद श्री शेखावत बार-बार आरोप लगाते रहे कि राज्यपाल ने जान-बूझकर पूरा अभिभाषण नहीं

पढ़ा तथा उसके स्पष्टीकरण की माँग करते रहे। इसी शोर-शराबे के बीच अभिभाषण को सदन के पटल पर रख दिया गया।[16] राजस्थान के राज्यपाल की यह कार्यवाही पूर्णरूप से उचित ही थी।

26 फरवरी, 1988 को राजस्थान विधानसभा में राज्यपाल सुखदेवप्रसाद भी अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ सके। राज्य-विधानसभा में अभूतपूर्व हंगामे और धक्का-मुक्की के वातावरण में राज्यपाल ने चालीस पृष्ठीय अभिभाषण के केवल पहले और आखिरी दो पेज पढ़ने के बाद राज्यपाल ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये और विधानसभाध्यक्ष गिरिराजप्रसाद तिवारी ने उसे पढ़ा हुआ मान लिया। भारी शोरगुल के बीच भाषण किसी को सुनाई नहीं दिया।[17] 29 फरवरी, 1988 को राज्य-विधानसभा में विपक्ष के कतिपय सदस्यों ने राज्यपाल अभिभाषण की संवैधानिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए उसे अवैध करार दिया और इस पर सदन में वाद-विवाद प्रारम्भ करने पर आपत्ति प्रकट की। राज्यपाल अभिभाषण पर बहस शुरू होने के पहले भारतीय जनता पार्टी के नाथूसिंह ने संविधान का उल्लेख करते हुए कहा कि 20 जनवरी से 25 जनवरी तक राज्य में मंत्रिपरिषद् नहीं थी। सिर्फ मुख्यमंत्री ही सरकार में थे। कोई भी नीतिगत निर्णय अकेले मुख्यमंत्री नहीं कर सकते, लिहाजा इन 5 दिनों में जो भी फैसले लिए गए, उन्हें अभिभाषण में शामिल नहीं किया गया है, इसलिए इस पर चर्चा नहीं हो सकती। भारतीय जनता पार्टी के ही घनश्याम तिवाड़ी ने कहा कि अभिभाषण में बजट पेश करने और उसे सदन में मंजूरी देने का जिक्र होता है, लेकिन राज्यपाल अभिभाषण में राज्य के सालाना आय-व्यय पेश करने का कहीं उल्लेख नहीं है और न ही राज्यपाल ने इस बात का जिक्र किया है कि सदन क्यों आहूत किया गया है। बिना इन दोनों मुद्दों का उल्लेख किए अभिभाषण को पूरा नहीं माना जा सकता है। यह मसला सदन में दो बार पहले भी उठ चुका है। श्री तिवाड़ी ने पुरानी व्यवस्थाओं का जिक्र करते हुए कहा कि तत्कालीन अध्यक्ष ने सरकार को ऐसी गलती फिर नहीं करने की हिदायत दी थी, लेकिन यही गलती फिर दोहराई गई है। लिहाजा इस पर वाद-विवाद नहीं हो सकता। इसलिए राज्यपाल को सदन में दुबारा बुलाकर अभिभाषण पढ़ने के लिए कहा जाए।

जनता पार्टी के मानिकचंद सुराना ने आपत्ति की कि राज्यपाल ने अपना अभिभाषण पूरा नहीं पढ़ा, दूसरे उन्होंने सदन की परम्पराओं का भी निर्वाह नहीं किया। परम्परा के अनुसार राज्यपाल बैठे-बैठे भाषण नहीं दे सकते। इस बार उन्होंने अपना अभिभाषण बैठे-बैठे पढ़ा। विपक्षी सदस्यों के एतराज का जवाब देते हुए संसदीय मंत्री बुलाकीदास कल्ला ने कहा कि भाजपा के नाथूसिंह द्वारा उठाई गई आपत्ति संविधान-सम्मत नहीं है। उन्होंने जिन धाराओं और मुकदमों का उल्लेख किया है, वह काम चलाऊ सरकार के बारे में है।_ अन्य विपक्षी सदस्यों की आपत्ति का जवाब देते हुए श्री कल्ला ने कहा कि परम्परा के अनुसार राज्यपाल के अभिभाषण को बिना पढ़े ही पढ़ा हुआ माना जा सकता है। उन्होंने सदन में दी गई पुरानी व्यवस्थाओं को पढ़कर सुनाया। विधि-मंत्री रघुनाथ विश्नोई ने भी संसदीय प्रक्रियाओं का हवाला देते हुए विपक्षी सदस्यों की आपत्ति को नामंजूर करवाने की कोशिश की।[18]

अष्टम्, 22 जनवरी, 1991 को उत्तरप्रदेश विधानसभा में राज्यपाल सत्यनारायण रेड्डी अपना पूरा अभिभाषण नहीं पढ़ सके। उन्होंने अभिभाषण की कुछ पंक्तियाँ पढ़ीं, और दो मिनट में सदन से उठकर चले गये।

नवम्, 11 फरवरी, 1991 को गुजरात के राज्यपाल डॉ. स्वरूपसिंह को अपूर्व हंगामे के कारण अपना अभिभाषण बीच में ही समाप्त कर सदन छोड़ना पड़ा।

दशम्, 13 फरवरी, 1991 को गोवा के राज्यपाल खुर्शीद आलम खान राज्य-विधानसभा में शोर-शराबे और हुल्लड़बाजी के कारण अपना पूरा अभिभाषण नहीं पढ़ सके और केवल तीन मिनट में ही अपना अभिभाषण समाप्त कर के सदन से उठकर चले गये।

उपर्युक्त सभी मामलों में राज्यपालों की भूमिका संविधान-सम्मत ही थी, क्योंकि राज्यपाल तो अपना अभिभाषण पढ़ने को तैयार थे, लेकिन अवांछनीय परिस्थितियों के कारण ही वे अपना अभिभाषण पूरा नहीं कर सके। अतः उनको इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। उनके आचरण से संविधान की कहीं भी अवमानना नहीं हुई।

(3) मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़ने से इन्कार कर देना

सन् 1967 ई. के पूर्व राज्यपाल-अभिभाषण महज एक "सांविधानिक-औपचारिकता" ही थी। प्रायः राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को अक्षरतः पढ़ने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट प्रदर्शित नहीं करते थे, अतः इस प्रकार का कोई संवैधानिक विवाद ही उपस्थित नहीं हुआ कि अगर राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़ने से इन्कार कर दे, और उसके उन आपत्तिजनक अंशों को स्पष्ट रूप से हटाने के लिए मंत्रिपरिषद् से निवेदन करने के बाद भी मंत्रिपरिषद् राज्यपाल से उन अंशों को पढ़ाने के अपने निर्णय पर दृढ़ रहे, तो क्या होगा? सन् 1967 ई. के बाद की संघर्ष-संकुल राजनीति में अनेक मामलों में राज्यपालों ने अपनी मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के उन अंशों को पढ़ने से इन्कार कर दिया, जो उनकी दृष्टि में आपत्तिजनक थे। इसने देश में व्यापक बहस को आमंत्रित किया। संविधान-विशेषज्ञों ने इस बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख निम्नलिखित मामले उल्लेखनीय रहे हैं —

प्रथम, सन् 1967 ई. के बाद केरल में ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई। श्री ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में गैर-कांग्रेसी दलों की संयुक्त मोर्चा की सरकार राज्य में सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार और केन्द्र के बीच अनेक मामलों में टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो गई। केरल की संयुक्त मोर्चा सरकार ने राज्यपाल-अभिभाषण में केन्द्रीय सरकार की आलोचना करते हुए उसकी निन्दा की। राज्यपाल श्री पी. विश्वनाथन ने राज्य-मंत्रिपरिषद से अभिभाषण से केन्द्र की निन्दा से सम्बन्धित अंशों को निकालने का अनुरोध किया। लेकिन राज्य सरकार ने राज्यपाल के सुझाव को अस्वीकार करते हुए उनसे मूल अभिभाषण

को पढ़ने का आग्रह किया। इस पर राज्यपाल ने राज्य विधानसभा में अभिभाषण के उन आपत्तिजनक अंशों को पढ़ने से छोड़ दिया। राज्यपाल की इस कार्यवाही की संयुक्त मोर्चा सरकार के नेताओं और विपक्षी दलों ने तीव्र भर्त्सना करते हुए यह तर्क दिया कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद् का भाषण पूरा पढ़ने के लिए बाध्य है। इस बारे में उसे कोई स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं।

द्वितीय, पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल श्री धर्मवीर की कार्यवाही ने भी उग्र-विवाद को जन्म दिया। 21 नवम्बर, 1967 ई. को राज्यपाल श्री धर्मवीर ने श्री अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा की सरकार को बर्खास्त कर के डॉ. प्रफुल्लचन्द्र घोष के नेतृत्व में नई सरकार को शपथ दिलाई। इसके बाद से ही राज्यपाल और संयुक्त मोर्चे के नेताओं में संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई थी। फरवरी, 1968 ई. में पश्चिमी बंगाल राज्य-विधानमंडल में राज्यपाल के साथ संयुक्त मोर्चे के कतिपय सदस्यों द्वारा अशोभनीय व्यवहार किया गया। बाद के घटनाक्रम ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की परिस्थिति को जन्म दिया। फरवरी, 1969 ई. को राज्य में मध्यावधि चुनाव हुए। इस मध्यावधि चुनाव में श्री अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे को भारी सफलता मिली। संयुक्त मोर्चे में शामिल घटक दलों ने बंगला कांग्रेस के नेता और पूर्व मुख्यमंत्री श्री अजयकुमार मुखर्जी को सर्वसम्मति से पुनः अपना नेता निर्वाचित किया। इस पर राज्यपाल ने श्री मुखर्जी को मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई। राज्य में संयुक्त मोर्चे की सरकार के सत्तारूढ़ होते ही राज्य-मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल में यह संघर्ष अपरिहार्य लगने लगा। संयुक्त मोर्चे की सरकार न केवल राज्यपाल से अपनी बर्खास्तगी का प्रतिशोध लेने के लिए कृतसंकल्प थी, अपितु वह उन्हें राज्य से हटाने के लिए भी दृढ़-प्रतिज्ञ थी। अतः 6 मार्च, 1969 ई. को राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों में होने वाले राज्यपाल-अभिभाषण के समय यह संघर्ष अपने चरम-शिखर पर पहुँच गया। राज्यपाल ने संयुक्त मोर्चा सरकार द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के उन आपत्तिजनक अंशों पर आपत्ति प्रकट करते हुए उन्हें हटाने की माँग की जिनमें अन्य बातों के साथ नवम्बर सन् 1967 ई. में स्वयं राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी की भी आलोचना की गई थी। ये अंश 'संयुक्त मोर्चा मंत्रिमंडल की असांविधानिक बर्खास्तगी,''अल्पमत सरकार की स्थापना' और 'अल्पमत सरकार द्वारा किये गये दमनमूलक कार्य' से सम्बन्धित थे।[19] निश्चित रूप से राज्यपाल-अभिभाषण के इन अंशों में राज्यपाल श्री धर्मवीर के कृत्यों की स्पष्ट रूप से निन्दा झलकती थी। अतः राज्यपाल के सम्मुख स्वयं के द्वारा स्वयं की आलोचना करना एक बड़ी चुनौती और धर्म-संकट का कार्य था। अतः राज्यपाल ने मंत्रिपरिषद् से अभिभाषण के आपत्तिजनक अंशों को निकालने का अनुरोध किया। राज्यपाल का कहना था कि ऐसा करने पर ही वे अभिभाषण को पढ़ेंगे। लेकिन राज्य-मंत्रिपरिषद् ने ऐसा करने से इन्कार करते हुए इस बात पर बल दिया कि राज्यपाल को यह पूरा अभिभाषण अक्षरतः पढ़ना होगा, और उसमें किसी प्रकार का कोई संशोधन नहीं होगा। इससे राज्य में संवैधानिक और राजनैतिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई। राज्यपाल और राज्य-मंत्रिपरिषद् दोनों ही अपने-अपने पक्ष पर अड़ गये। अन्ततोगत्वा, 6 मार्च, 1969 ई. को राज्यपाल श्री धर्मवीर ने अभिभाषण के आपत्तिजनक अंशों को छोड़कर, पूरा अभिभाषण पढ़ डाला।

राज्यपाल का यह कदम अप्रत्याशित नहीं होते हुए भी नवीन परिपाटी को स्थापित करने वाला था। पश्चिमी बंगाल संयुक्त मोर्चे के नेताओं और अन्य गैर कांग्रेसी नेताओं ने राज्यपाल के इस कदम की कटु शब्दों में निन्दा करते हुए इसे असंसदीय करार दिया। तत्कालीन उपमुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु ने राज्यपाल के कदम की आलोचना करते हुए कहा कि राज्यपाल-अभिभाषण या सम्बोधन सरकार की नीतियों का प्रतीक होता है, अतः राज्यपाल को उसके किसी अंश में परिवर्तन करने या छोड़ने का कोई अधिकार नहीं है।[20] राज्यसभा के वरिष्ठ सदस्य और भारतीय साम्यवादी दल के नेता श्री भूपेश गुप्ता ने राज्यपाल के कृत्य की और भी कठोर शब्दों में आलोचना करते हुए इसे 'महाभियोग' की संज्ञा दी।[21] विधिवेत्ता श्री टी. विश्वनाथन् ने भी राज्यपाल द्वारा अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़ने से इन्कार कर देने वाले कृत्य को संविधान की भावना और भाष्य के विरुद्ध बताया।[22] राज्यपाल के निर्णय के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये गये— प्रथम, राज्यपाल राज्य का सांविधानिक अध्यक्ष होता है। अतः वह मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पढ़ने के लिए बाध्य होता है। राज्यपाल अगर अभिभाषण की किसी बात को पढ़ने से इन्कार करता है, तो इसका अर्थ यही हुआ कि उसने निर्वाचित जन-प्रतिनिधि सरकार का अनादर किया है। द्वितीय, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 176 के अन्तर्गत राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़ने और कुछ को छोड़ने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। अतः राज्य के राज्यपाल ने ऐसा कर के संविधान की भावना के प्रतिकूल आचरण किया है। तृतीय, पश्चिमी बंगाल के मध्यावधि चुनाव में संयुक्त मोर्चा के नेताओं ने राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी को चुनाव का मुख्य-मुद्दा बनाया था। राज्य के मतदाताओं द्वारा संयुक्त मोर्चा को भारी सफलता प्रदान करने और डॉ. घोष के समर्थकों तथा कांग्रेस का पूर्ण सफाया करने का निर्णय इस बात का प्रतीक था कि उसने राज्यपाल द्वारा पिछली संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी के विरोध में अपना यह निर्णय दिया है। अतः अगर राज्य-मंत्रिपरिषद् ने राज्यपाल-अभिभाषण में राज्यपाल के पिछले कार्यों के बारे में टिप्पणी की तो कोई अनुचित कार्य नहीं किया। राज्यपाल से भी यही अपेक्षा थी कि वे अपने व्यक्तिगत अहम् को तिलांजलि देकर जनादेश का सम्मान करते हुए, अपने विरुद्ध की गई टिप्पणी से युक्त अभिभाषण को भी पढ़ने का साहस प्रदर्शित करते। ऐसा कर के ही वे राज्य के मतदाताओं की भावनाओं का सम्मान कर सकते थे। संयुक्त मोर्चा सरकार को राज्यपाल-अभिभाषण में विगत घटनाओं का उल्लेख करने का पूर्ण अधिकार था। और अन्त में, राज्यपाल से यही अपेक्षा की जाती थी कि उन्हें निर्वाचन-परिणाम आने के तुरन्त बाद या तो स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए था, या केन्द्रीय-सरकार से उन्हें दूसरे राज्य में स्थानान्तरित करने के लिए निवेदन करना चाहिए था। जब मुख्यमंत्री ने केन्द्रीय-सरकार से राज्यपाल को हटाने के आशय की माँग ही कर दी थी तो समय का तकाजा तो यही था कि केन्द्रीय-सरकार द्वारा राज्यपाल को राज्य से हटाने का निर्णय लिया जाता। सबसे अच्छा तो यही था कि राज्यपाल स्वयं ही अपने पद से त्यागपत्र देकर इस संवैधानिक संकट को उत्पन्न ही नहीं होने देते।

लेकिन, अनेक विधिवेत्ताओं ने राज्य के राज्यपाल की इस कार्यवाही का समर्थन किया था। प्रो. डी.एन. बनर्जी के मत में, पश्चिमी बंगाल विधानसभा में राज्यपाल द्वारा अपने अभिभाषण के कुछ अंशों को पढ़ने से इन्कार कर देना न तो गैर-कानूनी ही है, और न ही असंवैधानिक।[23] भूतपूर्व केन्द्रीय विधि मंत्री श्री अशोक सेन ने भी राज्यपाल के कदम को उचित ठहराते हुए कहा कि राज्यपाल ने कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अनुरूप ही कार्य किया है।[24] महावीर प्रसाद शर्मा बनाम प्रफुल्लचन्द्र घोष वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के कृत्य को उचित ठहराया।[25] तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री श्री यशवन्तराव चव्हाण ने भी न्यायालय के फैसले के आधार पर राज्यपाल के कदम का समर्थन किया।[26] राज्यपाल के इस निर्णय का निम्नलिखित आधारों पर समर्थन किया गया – प्रथम, राज्यपाल-अभिभाषण एक सांविधानिक आवश्यकता है, और राज्यपाल ही इसे राज्य-विधानमंडल में पढ़ता है। लेकिन संविधान में उल्लिखित प्रावधानों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को अक्षरतः पढ़ने के लिए बाध्य नहीं है। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी इस विवाद में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि इस सम्बन्ध में न तो संविधान में कोई उल्लेख ही है, और न ही विकसित परम्पराओं द्वारा इसकी पुष्टि ही हुई कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पूरा पढ़ने के लिए बाध्य है।[27] महान्यायवादी की राय पर आधारित केन्द्रीय सरकार की राय में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अपने अभिभाषण को पूरा पढ़ने के लिए बाध्य नहीं है। वह उसके कुछ अंशों को पढ़ने से छोड़ सकता है।[28] द्वितीय, राज्यपाल के सम्मुख इसके अलावा कोई विकल्प नहीं रह गया था कि वह अभिभाषण के उन अंशों को पढ़ने से इन्कार कर दे, जिनमें उसके कार्यों की भर्त्सना करते हुए उन पर लांछन लगाये गये हों। तृतीय, सांविधानिक-औचित्य की दृष्टि से भी राज्यपाल का निर्णय उचित ही था। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में राज्यपाल द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी के निर्णय को उचित ही ठहराया था। अतः राज्यपाल-अभिभाषण में पुनः संयुक्त मोर्चा सरकार की बर्खास्तगी की निन्दा करना न्यायिक निर्णय पर अनुचित छींटाकशी करना मात्र था। इसके अलावा राज्यपाल ने अभिभाषण के जिन अंशों को पढ़ने से छोड़ा था, उनका राज्य-मंत्रिपरिषद् की नीतियों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनमें न तो सरकार की उपलब्धियों, नीतियों और न ही किसी कार्यक्रम का ही उल्लेख किया गया था। अतः अगर उन्होंने इन अपमानजनक-अंशों को पढ़ने से छोड़ दिया तो कोई संवैधानिक-अपराध नहीं किया। पश्चिमी बंगाल के घटनाचक्र का अवलोकन करने पर यही कहा जा सकता है कि इस संवैधानिक गत्यवरोध के पीछे सभी पक्षों की 'हठधर्मिता' की भावना ही उत्तरदायी रही है। जब पश्चिमी बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार ने सत्ता-ग्रहण करने के बाद हो केन्द्रीय सरकार से 6 मार्च से पहले ही राज्यपाल को उनके पद से हटाने का अनुरोध किया था तो जनता के निर्णय को ध्यान में रखते हुए और राज्य में राज्यपाल और संयुक्त मोर्चा सरकार के बीच संभावित संघर्ष को टालने के लिए केन्द्रीय-सरकार को उन्हें अपने पद से हटा देना चाहिए था। लेकिन केन्द्रीय-सरकार ने भी इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। राज्य सरकार को भी सहिष्णुता का परिचय देते हुए अभिभाषण से उन आपत्तिजनक अंशों को हटा लेना चाहिए था,

जिसको हटाने के लिए राज्यपाल ने उससे आग्रह किया था। अन्त में, राज्यपाल को भी राज्य में संवैधानिक संकट को टालने के उद्देश्य से परम्परागत रूप से इस अभिभाषण को पूरा पढ़ लेना चाहिए था। राज्यपाल को इस तथ्य को भी भलीभाँति ध्यान में रखना चाहिए था कि मध्यावधि चुनाव में मतदाताओं का संयुक्त मोर्चा को प्रदान किया गया भारी समर्थन, 21 नवम्बर, 1967 ई. को उनके द्वारा संयुक्त मोर्चा सरकार को बर्खास्त किये जाने वाले निर्णय के विरुद्ध दिया गया स्पष्ट जन-निर्णय था। अतः इसके बाद उचित यही था कि राज्यपाल अपने व्यक्तिगत-पूर्वाग्रहों को एक तरफ रखकर, उन अंशों को भी पढ़ते जो उनकी आलोचना से सम्बन्धित थे।

(4) राज्यपाल द्वारा स्वयं की आलोचना वाले अंशों को भी पढ़ना

पंजाब के राज्यपाल डॉ. डी.सी. पावटे ने पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री धर्मवीर का अनुसरण नहीं करते हुए राज्य-मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को अक्षरतः पढ़ते हुए उन अंशों को भी पढ़ा, जिनमें उनकी आलोचना की गई थी। पंजाब की राजनैतिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में राज्यपाल की यह कार्यवाही बड़ा महत्त्व रखती है। सन् 1967 ई. के आम चुनाव में सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व में राज्य में पहली बार गैर कांग्रेसी सरकार अस्तित्व में आई थी। लेकिन यह सरकार भी अकाली नेता सरदार लक्ष्मणसिंह गिल के नेतृत्व में कतिपय विपक्षी सदस्यों के दलबदल करने के कारण अपदस्थ हो गई। इसके पश्चात् राज्य में श्री लक्ष्मणसिंह गिल के नेतृत्व में एक अल्पमतीय मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ। लेकिन विधानसभाध्यक्ष श्री जोगिन्दरसिंह मान की व्यवस्थाओं द्वारा उत्पन्न किये गये सांविधानिक संकट और कांग्रेस द्वारा इस मंत्रिमंडल का समर्थन बन्द कर देने के निर्णय के फलस्वरूप इस सरकार का भी पतन हो गया। 23 अगस्त, 1968 ई. को राज्य-विधानसभा को विघटित कर के राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इसके साथ ही राज्य में मध्यावधि चुनाव के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। फरवरी, 1969 ई. में राज्य में हुए मध्यावधि चुनाव में सरदार गुरनामसिंह के नेतृत्व में अकाली-भारतीय जनसंघ के गठबंधन को पूर्ण विजय प्राप्त होने पर राज्यपाल द्वारा श्री गुरनामसिंह को राज्य का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया, और इसके साथ ही राज्य में अकाली-जनसंघ दल का संविद मंत्रिमंडल सत्ता में आया। इस संयुक्त मोर्चा सरकार के सत्तारूढ़ होने के साथ ही यह आशंका व्यक्त की जाने लगी थी कि कहीं यहाँ भी पश्चिमी बंगाल जैसी राजनीतिक-गत्यवरोध जैसी स्थिति उत्पन्न न हो जाये। लेकिन यह आशंका तब निराधार और निर्मूल साबित हुई, जबकि 14 मार्च, 1969 ई. को राज्यपाल डॉ. डी.सी. पावटे ने राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में गुरनामसिंह-मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पूरा पढ़ दिया। इस अभिभाषण में भी पिछले घटनाक्रम का विवरण शामिल था। इसमें राज्य-मंत्रिमंडल ने पिछले 15 महीनों में घटित हुए क्रम की आलोचना कर के एक तरह से राज्यपाल के कृत्यों की भी आलोचना की थी। राज्यपाल ने बिना किसी आनाकानी के अपनी आलोचना के अंश वाले भाग को भी पढ़कर सभी अटकलबाजियों को शांत कर दिया। पंजाब के राज्यपाल का आचरण दूरदर्शितापूर्ण था, क्योंकि इससे राज्य में अनुचित विवाद और संघर्ष की स्थिति समाप्त हो गई।

(5) राज्यपाल द्वारा राज्य-मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण में संशोधन करना, परन्तु केन्द्रीय दबाव के कारण ही मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकृत अभिभाषण को पढ़ना

सिक्किम में राज्यपाल होमी.जे. तल्यार खां और मुख्यमंत्री श्री नरबहादुर भंडारी में संघर्ष और तनाव की स्थिति के कारण राज्य में अनेक अनुचित संवैधानिक विवादों को प्रश्रय मिला। राज्यपाल-अभिभाषण को लेकर भी वहाँ संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई। राज्यपाल ने राज्य-मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकृत अभिभाषण में संशोधन कर के मुख्यमंत्री श्री भंडारी से कहा कि वे अपने संशोधित अभिभाषण को ही सदन में पढ़ेंगे। परन्तु केन्द्रीय नेताओं के दबाव के कारण ही राज्यपाल को मंत्रिमंडल द्वारा स्वीकार किये गये अभिभाषण को सदन में पढ़ना पड़ा।[29] सिक्किम के राज्यपाल का यह कदम सांविधानिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से उचित नहीं था। राज्यपाल और मुख्यमंत्री में व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, लेकिन किसी भी राज्यपाल को राज्य-मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण में संशोधन करने का अधिकार प्रदान नहीं किया जा सकता है। राज्यपाल अपनी तरफ से अभिभाषण में एक शब्द भी नहीं जोड़ सकता है। उनके लिए यह भी उचित नहीं था कि वे इस मामले में केन्द्रीय-नेतृत्व को हस्तक्षेप करने के लिए विवश करते।

(6) राज्यपाल-अभिभाषण में केन्द्र की आलोचना

सामान्यत: राज्यपाल को राज्य के संवैधानिक प्रधान, एवं केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में दोहरी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। लेकिन अनेक राज्यों के राज्यपालों ने अपनी-अपनी मंत्रिपरिषदों द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के उन अंशों को भी विधानमंडलों में पढ़ा, जिनमें केन्द्रीय-सरकार पर छींटाकशी करते हुए उसकी आलोचना की गई थी। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख उदाहरण गिनाये जा सकते हैं —

प्रथम, 19 जनवरी, 1970 ई. को पंजाब के राज्यपाल डॉ. डी.सी. पावटे ने अपने अभिभाषण में 'चण्डीगढ़' पर कोई भी निर्णय नहीं लेने के कारण केन्द्र की निन्दा की।

द्वितीय, 20 जनवरी, 1970 ई. को तमिलनाडु के राज्यपाल सरदार उज्जवलसिंह ने केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पाँचवें वित्त आयोग की सिफारिशों पर निराशा व्यक्त की।

तृतीय, 21 जनवरी, 1970 ई. को पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री एस.एस. धवन ने राज्य-विधानमंडल में पढ़े गये अपने अभिभाषण में राज्य के आर्थिक विकास की उपेक्षा करने के लिए केन्द्र सरकार पर आरोप लगाया।[30]

चतुर्थ, 3 मार्च, 1986 ई. को पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल श्री उमाशंकर दीक्षित ने राज्य-विधानसभा में अपने अभिभाषण में राज्य की माँगों की उपेक्षा करने पर केन्द्र की आलोचना की। उन्होंने हर क्षेत्र में राज्य-सरकार के कामकाज की सराहना की। उन्होंने कहा कि कानून-व्यवस्था की स्थिति आमतौर पर संतोषजनक है। जरूरी चीजों के दाम बढ़ाए जाने की आलोचना करते हुए श्री दीक्षित ने कहा कि इससे आम आदमी की तकलीफें बढ़ेंगी। उन्होंने पेट्रोलियम-उत्पादों की मूल्य वृद्धि के लिए केन्द्र सरकार की

आलोचना करते हुए कहा कि इससे आम आदमी के दुःख-दर्द बढ़ सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में पेट्रोलियम-उत्पाद सस्ते होने के बावजूद यह मूल्य वृद्धि उचित नहीं ठहराई जा सकती है।[31] पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस (इ) विधानमंडलीय दल के नेता श्री अब्दुल सत्तार ने श्री दीक्षित के बजट भाषण की आलोचना करते हुए कहा कि आर्थिक मोर्चे पर राज्य सरकार के निराशाजनक प्रदर्शन का भाषण में जिक्र नहीं किया गया है। श्री सत्तार ने कहा कि पश्चिमी बंगाल सरकार ने भी योजना के लिए जितनी राशि माँगी थी, उससे केन्द्र ने 6 करोड़ रुपये अधिक आवंटित किये, लेकिन राज्यपाल ने अपने अभिभाषण में इसका जिक्र तक नहीं किया।[32] उपर्युक्त सभी मामलों में गैर-कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र सरकार की आलोचना करने के लिए राज्यपाल-अभिभाषण को अपना माध्यम बनाया। संभवतः राजनीतिक विवादों से बचने के लिए ही राज्यपालों ने अपनी मंत्रिपरिषदों के द्वारा अपनाई गई नीति के अनुसार अपनी भूमिका का निर्वाह किया। ऐसा करके राज्यपालों ने ठीक ही किया।

(7) राज्यपाल-अभिभाषण पर विपक्ष की आपत्ति

बिहार में ऐसा ही हुआ। सन् 1967ई. के बाद श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के नेतृत्व में पहली बार गैर-कांग्रेसी दलों की संविद सरकार राज्य में सत्तारूढ़ हुई। लेकिन दलीय-कलह और दलबदल की प्रवृत्ति के कारण इस सरकार की स्थिति भी डाँवाँडोल हो गई। श्री विंध्येश्वरीप्रसाद मण्डल के नेतृत्व में अनेक सदस्यों ने संयुक्त मोर्चा सरकार को समर्थन देना बन्द कर के 'शोषित दल' की स्थापना कर डाली। इससे राज्य-विधानसभा में संयुक्त मोर्चा सरकार का बहुमत संदिग्ध हो गया। 18 जनवरी, 1968 ई. को राज्यपाल श्री नित्यानंद कानूनगो द्वारा राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में दिये गये अभिभाषण पर विपक्ष के नेता श्री महेशप्रसाद सिन्हा ने आपत्ति उठाते हुए राज्यपाल से अनुरोध किया कि वे इस सरकार द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को नहीं पढ़ें। श्री सिन्हा का कहना था कि राज्य-विधानसभा में संयुक्त मोर्चा सरकार का बहुमत समाप्त हो गया है, अतः राज्यपाल को अल्पमतीय सरकार की नीतियों का बखान करने वाला अभिभाषण नहीं पढ़ना चाहिए। श्री सिंह के वक्तव्य के बाद सदन में भारी हंगामा हो गया। लेकिन राज्यपाल ने विपक्ष के नेता की आपत्तियों के बावजूद भी विधानसभा में अपना पूरा अभिभाषण पढ़ा। राज्य के राज्यपाल का यह निर्णय ठीक ही था, क्योंकि संयुक्त-मोर्चा सरकार की विधानसभा में पराजय नहीं हुई थी। अतः विपक्ष के नेता के इस तर्क में कोई वजन नहीं था कि संयुक्त-मोर्चा सरकार को राज्य-विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं रहा। इसके अलावा राज्यपाल के पास इस बात के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं बचा था कि वे मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पढ़ते। इसके अतिरिक्त राज्य-विधानसभा का सत्र भी चल रहा था, अतः विपक्ष को अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने का उचित अवसर प्राप्त था। वह इसमें शक्ति का प्रदर्शन कर के राज्य सरकार को अपदस्थ कर सकता था।

(8) राज्यपाल-अभिभाषण पर मंत्रिपरिषद् की पराजय और मुख्यमंत्रियों के त्यागपत्र

राज्यपाल-अभिभाषण को एक नीतिगत-दस्तावेज माना जाता है। अतः अगर कोई मंत्रिपरिषद् अभिभाषण को पारित करवाने वाले धन्यवाद प्रस्ताव पर पराजित हो जाती है, तो मुख्यमंत्री का यह संवैधानिक और नैतिक दायित्व बन जाता है कि वह अपने पद से त्यागपत्र दे दे। उत्तरप्रदेश में ऐसा ही हुआ। सन् 1967 ई. में श्री चन्द्रभानु गुप्त के नेतृत्व में राज्य में कांग्रेसी मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ। लेकिन यह मंत्रिमंडल भी स्थिर नहीं रह सका। श्री चरणसिंह के नेतृत्व में अनेक कांग्रेसी सदस्यों ने दलबदल कर लिया। परिणामस्वरूप राज्यपाल-अभिभाषण के धन्यवाद प्रस्ताव पर विपक्ष का एक संशोधन-प्रस्ताव विधानसभा ने स्वीकार कर लिया। 1 अप्रैल, 1967 ई. को राज्य-विधानसभा में साम्यवादी नेता श्री झारखण्डे राय द्वारा प्रस्तुत किया यह संशोधन प्रस्ताव 193 के विरुद्ध 215 मतों से पारित हो गया। फलस्वरूप उसी दिन मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।[33] मुख्यमंत्री का यह निर्णय लोकतंत्र की उच्च परम्पराओं के अनुकूल ही था। लेकिन दूसरी ओर पंजाब के मुख्यमंत्री सरदार गुरनामसिंह ने राज्यपाल-अभिभाषण पर अपनी सरकार की पराजय के बाद भी त्यागपत्र नहीं दिया। 5 अप्रैल, 1967 ई. को पंजाब में विपक्ष के नेता श्री ज्ञानसिंह राड़ेवाला द्वारा राज्यपाल-अभिभाषण के धन्यवाद प्रस्ताव पर एक संशोधन प्रस्तावित किया गया, जो 49 के विरुद्ध 53 मतों से स्वीकार कर लिया गया।[34] उसी दिन पंजाब विधान परिषद् में भी विपक्ष द्वारा राज्यपाल के धन्यवाद प्रस्ताव पर रखा गया एक संशोधन स्वीकार कर लिया गया। विधानपरिषद् में कांग्रेस दल के बहुमत में होने के कारण ही ऐसा हुआ। लेकिन राज्य-विधानसभा में राज्यपाल-प्रस्ताव पर सरकार की पराजय इस बात का स्पष्ट प्रमाण थी कि मुख्यमंत्री को तत्काल अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए था। मुख्यमंत्री श्री गुरनामसिंह द्वारा अपने पक्ष में जो तर्क दिये गये थे, वे अधिक तर्कसंगत होते हुए भी लोकतांत्रिक परम्पराओं के अनुकूल नहीं थे। निश्चित रूप से धन्यवाद-प्रस्ताव पर मतदान करते समय संयुक्त मोर्चा के समर्थित विधायकों को सचेतन जारी नहीं किया गया था। लेकिन इसका तात्पर्य यह तो नहीं माना जा सकता है कि सरकार की पराजय को अनदेखा कर दिया जाये। यह तो सरकार की अपनी कमजोरी थी कि वह अपने समर्थित सदस्यों को मतदान के समय अपने पक्ष में निर्णय करवाने में सफल नहीं हो सकी थी। अतः नैतिकता का यही तकाजा था कि श्री गुरनामसिंह को अपने पद से त्यागपत्र दे देना चाहिए था। श्री गुरनामसिंह ने ऐसा नहीं कर के लोकतांत्रिक मर्यादाओं के प्रतिकूल आचरण किया।

(9) राज्यपाल-अभिभाषण के समय असंयमित आचरण

विगत वर्षों की घटनाओं का अवलोकन करने से इस तथ्य का पता चलता है कि राज्यों में विपक्षी दलों के रूप में कार्य करने वाले सभी राजनैतिक दलों ने राज्यपाल-अभिभाषण के समय राज्य-विधानमंडलों में वांछित संयम का परिचय नहीं दिया। अभूतपूर्व हंगामे, अशोभनीय नारेबाजी, 'समानान्तरण अभिभाषण पढ़ने,' अभिभाषण के समय सदन से वाक-आउट (बहिर्गमन) करने, और राज्यपालों के प्रति सामान्य शिष्टाचार तक प्रदर्शित नहीं

किये जाने जैसी घटनाएँ घटित हुईं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(1) 2 जुलाई, 1980 ई. को पंजाब के राज्यपाल श्री जयसुखलाल हाथी ने अपना अभिभाषण पढ़ना प्रारम्भ किया ही था कि विपक्ष के नेता और भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री प्रकाशसिंह बादल भी 'समानान्तर भाषण' पढ़ने के लिए उठ खड़े हुए और उन्होंने उसे पूरा पढ़कर ही समाप्त किया। उसके बाद भारतीय साम्यवादी दल के नेता श्री राजकुमार ने और तत्पश्चात् मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता श्री चांदसिंह चोपड़ा ने अपने 'समानान्तर भाषण' पढ़े। दो निर्दलीय सदस्यों को छोड़कर पूरे विपक्ष ने सदन त्याग दिया। श्री बादल ने राज्यपाल पर विधानसभा चुनाव के दौरान अपने संवैधानिक अधिकार का दुरुपयोग करने का आरोप लगाया था।[35] इस तरह से पंजाब में राज्यपाल-अभिभाषण के समय हंगामेपूर्ण स्थिति बनी रही।

(2) 3 जुलाई, 1980 ई. को जैसे ही उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री चन्द्रप्रतापनारायणसिंह अपना अभिभाषण पढ़ने मंच पर आये, एक भूतपूर्व मंत्री और लोकदल विधायक श्री मोहनसिंह ने ऊँचे स्वर में कहा कि गवर्नर का खिताब ब्रिटिश हुकूमत का दिया हुआ है, और इसलिए वह साम्राज्यवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसे स्वतंत्र विधानसभा को सम्बोधित करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। विपक्ष के अनेक विधायकों ने 'राज्यपाल वापस जाओ' का उद्घोष कर के उनका साथ दिया। अभी राज्यपाल अपना अभिभाषण पढ़ ही रहे थे कि विपक्ष के नेता श्री राजेन्द्रसिंह ने भी अपना वक्तव्य पढ़ना शुरू कर दिया, जिसमें उन्होंने राज्यपाल पर आरोप लगाया कि उन्होंने एक लोकप्रिय सरकार को बर्खास्त कर के प्रशासन को एक "निरंकुश नौकरशाही" के सुपुर्द कर दिया। उन्होंने 19 मई, 1980 ई. के राज्यपाल के उस बयान का भी हवाला दिया, जिसमें उन्होंने कहा था कि वह राज्य में विपक्ष की मिलीजुली सरकार नहीं बनने देंगे।[36] इस प्रकार से विपक्ष की भारी टोकाटाकी के बीच ही राज्यपाल अपना अभिभाषण समाप्त कर पाये।

(3) हरियाणा में राज्यपाल-अभिभाषण के समय राज्यपाल जी.डी. तपासे के साथ जो भी व्यवहार घटित हुआ, वह अकल्पनीय था। उस समय संसदीय शिष्टाचार की सभी सीमाएँ समाप्त हो गईं। निस्संदेह इसमें राज्यपाल द्वारा जिस तरीके से लोकदल के नेता श्री देवीलाल के बहुमत के दावे की अनदेखी कर के श्री भजनलाल को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त किया गया था, उससे उत्पन्न रोष की मुख्य भूमिका थी। 24 मई, 1982 ई. को हरियाणा के राज्यपाल जी.डी. तपासे ने भजनलाल को मुख्यमंत्री-पद पर नियुक्त करते समय उन्हें यह निर्देश दिया था कि वे एक महीने में राज्य-विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करें। राज्यपाल के इस निर्णय के विरुद्ध श्री देवीलाल के नेतृत्व में प्रतिपक्षी सदस्यों ने 24 मई से 24 जून, 1982 ई.तक राज्यपाल के विरुद्ध अविराम रूप से प्रदर्शनों, जनसभाओं और माँगपत्रों के माध्यम से अपना क्षोभ प्रकट किया था। मुख्यमंत्री श्री भजनलाल ने राज्यपाल के निर्देश के अनुरूप ही 24-25 जून, 1982 ई. को हरियाणा विधानसभा का दो दिवसीय अधिवेशन बुलाया। यह अधिवेशन अत्यन्त उत्तेजनात्मक

वातावरण में प्रारम्भ हुआ। चण्डीगढ़ में बहुत तनाव था। विधानसभा की एक किलोमीटर की सीमा तक निषेधाज्ञा लागू कर दी गई। विपक्षी दलों के कार्यकर्ता अकाली नेता श्री प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में विधानसभा की तरफ आगे बढ़े। जब तक प्रदर्शन का नेतृत्व श्री बादल के हाथ में था, तब तक स्थिति व्यवस्थित रही। लेकिन उनके हटते ही कार्यकर्त्ता बेकाबू हो गये। कार्यकर्त्ताओं ने पुलिस का पहला घेरा तोड़ डाला। दूसरा घेरा तोड़ने का प्रयास हुआ तो पुलिस ने लाठी चार्ज किया। पुलिस और कार्यकर्त्ताओं के बीच हुए पथराव और लाठीचार्ज की घटनाओं से दो सौ से अधिक लोग घायल हो गये। इस तरह से विधानसभा के बाहर की स्थिति अत्यन्त विस्फोटक थी।

राज्य-विधानसभा के भीतर की स्थिति भी कम तनावपूर्ण नहीं थी। पहले अस्थायी अध्यक्ष श्री ईश्वरसिंह ने नव-निर्वाचित विधायकों को शपथ दिलाई। उसके बाद विधानसभाध्यक्ष के चुनाव में हुए शक्ति-परीक्षण में कांग्रेस (इ) के प्रत्याशी श्री तारासिंह ने विपक्षी दलों के प्रत्याशी राव निहालसिंह को 40 के विरुद्ध 48 मतों से पराजित कर दिया। सत्तारूढ़ दल के प्रत्याशी की अध्यक्ष पद पर विजय भजनलाल के राज्य-विधानसभा में बहुमत को पुष्ट करती थी। राज्य-विधानसभा में स्थिति तब अत्यन्त उत्तेजनात्मक बन गई, जबकि राज्यपाल गणपतराव देवजी तपासे नव-निर्वाचित विधायकों के सम्मुख अपना अभिभाषण पढ़ने आये। प्रतिपक्ष ने उनका काले झण्डों से स्वागत किया। उन्हें रस्मी तौर पर सदन में लाया गया और रस्मी तौर पर ले जाया भी गया। लेकिन अभिभाषण के समय रस्मी सद्भावना का अभाव था। एक तरफ तपासे अपने 800 शब्दों के दस्तावेज को पढ़ रहे थे तो दूसरी तरफ उनसे भी ऊँची आवाज में देवीलाल और अन्य सदस्य अपना 'भाषण' सुना रहे थे। तपासे की आवाज कमजोर पड़ रही थी। देवीलाल ने अपनी जेब से काला झण्डा निकाला और हिलाते हुए कहा 'तपासे चोर है' उसके बाद सभी प्रतिपक्षी दलों ने काले झण्डे अपनी जेबों से निकलाते हुए अपने नेता की आवाज में अपनी आवाजें मिलायीं 'तपासे चोर है, रिश्वतखोर है', 'तपासे बिका हुआ है', 'बेशरम कैसा हो, तपासे जैसा हो' आदि। इन व्यवधानों के बावजूद तपासे ने अपना अभिभाषण पढ़ा।[37] निस्संदेह, किसी राज्यपाल को इतना प्रबलतम रोष का सामना शायद ही कभी करना पड़ा हो। राज्यपाल-अभिभाषण के समय विपक्षी नेता देवीलाल द्वारा किये गये आचरण के विरुद्ध दो मर्यादा प्रस्ताव लाये गये। इन प्रस्तावों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए श्री देवीलाल ने कहा कि "सरकार प्रतिपक्ष का मनोबल गिराना चाहती है। मेरे लिए यह 'मेंबरी' कुछ नहीं लेकिन आप भी (मुख्यमंत्रीजी) यहाँ चैन से नहीं बैठ पायेंगे।"[38] हरियाणा विधानसभा में घटित घटनाओं पर टिपण्णी स्वरूप यही कहा जा सकता है कि इस तरह की घटनाओं को लोकतंत्र में उचित नहीं ठहराया जा सकता है। विपक्ष को विरोध-प्रदर्शित करते समय संयम का आचरण करना चाहिए था।

(4) पश्चिमी बंगाल में कांग्रेस (इ) के सदस्यों ने विपक्ष के रूप में जो आचरण किया, वह हरियाणा की घटनाओं की याद दिलाता था। जून, 1982 ई. में पश्चिमी बंगाल विधानसभा के चुनाव में मार्क्सवादी-साम्यवादी दल के नेतृत्व वाले वामपंथी मोर्चे को स्पष्ट

बहुमत प्राप्त हुआ। 14 जून, 1982 ई. को नई विधानसभा का सत्र प्रारम्भ हुआ। राज्यपाल श्री भैरवदत्त पांडेय ने अपना अभिभाषण पढ़ना शुरू भी नहीं किया था कि कांग्रेस (इं) के विधायक चिल्लाने लगे कि "आप चले जायें, हम आपको सुनना नहीं चाहते ... आप चोरों के सरदार हैं (आपनी चोरेर सरदार)" ऐसे ही नारों के साथ ही सभी कांग्रेस (इ) और कांग्रेस (स) विधायक अपने पंजों पर खड़े थे और सबके हाथ में काले झण्डे थे जिसे फहराते हुए हो-हल्ला कर रहे थे। उस समय न तो राज्यपाल की आवाज सुनाई पड़ रही थी और न अन्य लोगों की। राज्यपाल के साथ ही विरोधी दल के नेता अब्दुल सत्तार भी अपना भाषण पढ़ रहे थे। लेकिन शोर के सिवाय कुछ सुनाई नहीं पड़ रहा था। कुछ विधायक बैंचों पर खड़े होकर काले झण्डे फहराते हुए नारे लगा रहे थे। राज्यपाल का भाषण मात्र सात मिनिट का था और उसके समाप्त होने के पहले ही सभी प्रतिपक्षी विधायक सदन से बहिर्गमन कर गये।[39] सदन के बाहर भी राज्यपाल के विरुद्ध कांग्रेस (इ) के सदस्यों ने नारेबाजी की । इस घटना पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए विपक्ष के नेता श्री अब्दुल सत्तार ने कहा कि 'हमारा आक्रोश राज्यपाल के प्रति नहीं, मार्क्सवादी सरकार के प्रति है। राज्यपाल उनकी हाँ में हाँ मिला रहे थे, जिसका प्रतिवाद करना जरूरी था। यह सरकार अवैध है क्योंकि चुनाव में जालसाजी करके इसने पुनः गद्दी हासिल कर ली है। चुनाव के बाद से ही बंगाल में सर्वत्र आतंक का राज है, और कांग्रेस-कर्मियों पर सुनियोजित ढँग से हमले किये जा रहे हैं।'[40] इस घटनाचक्र में भी संसदीय परम्पराओं और आचरण की शालीनता की सारी सीमाओं का अतिक्रमण किया गया।

(5) मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री भगवतदयाल शर्मा की 'आरक्षण विरोधी' टिप्पणी ने राज्यपाल-अभिभाषण के समय अवांछनीय विवाद को जन्म दिया। 18 दिसम्बर, 1984 ई. को राज्यपाल श्री शर्मा की डॉक्टरों के क्लब में खुले विचार-विमर्श के समय 'आरक्षण-विरोधी' टिप्पणी ने राज्य में उत्तेजक वातावरण बना दिया। राज्यपाल-अभिभाषण के समय विपक्षी सदस्यों ने हंगामा खड़ा कर दिया। विधानसभा में लोकदल के नेता श्री रमाशंकरसिंह ने दावा किया कि उनके पास इस भाषण के समय की गई वीडियो फिल्म है जो यह सिद्ध करती है कि राज्यपाल ने आरक्षण-विरोधी बातें कहीं थीं, और संविधान की भावना का हनन किया था। इसलिए उन्हें त्यागपत्र दे देना चाहिए। श्री सिंह ने विधान-सभाध्यक्ष श्री रामकिशोर शुक्ल से आग्रह किया कि वे भाषण के वीडियो कैसेट को सदन के पटल पर रखने की अनुमति दें। साथ ही वे यह आश्वासन भी दें कि ये वीडियो कैसेट नष्ट करने के लिए उनसे छीने नहीं जायेंगे। अध्यक्ष ने उनके इस आग्रह को अस्वीकार कर दिया। राज्य सरकार ने राज्यपाल का पक्ष लिया। विधिमंत्री श्री कृष्णपालसिंह ने इस बात पर आपत्ति प्रकट की कि राज्यपाल के आचरण पर चर्चा करने की कोशिश हो रही है, जबकि सदन को इसका अधिकार ही नहीं है। उन्होंने राज्यपाल के सम्बन्ध में कहे गये शब्दों को सदन की कार्यवाही से निकालने की माँग की। राज्यपाल और राज्य सरकार के नेता बराबर यही कहते रहे कि आरक्षण-विरोधी बात कही ही नहीं गई थी।[41] राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस प्रकार की विवादास्पद टिप्पणी से अपने को मुक्त रखेगा।

(6) 6 जनवरी, 1986 ई. को महाराष्ट्र विधानसभा में विपक्ष के नेता श्री शरद पंवार के नेतृत्व में विपक्षी सदस्यों ने राज्यपाल कोना प्रभाकर राव के अभिभाषण का बहिष्कार किया। विपक्षी सदस्यों ने 'कोना प्रभाकर राव चले जाओ' के नारों से राज्यपाल का स्वागत किया। ज्यों ही राज्यपाल ने विधानसभा में प्रवेश किया कि अपने पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार भारतीय जनता पार्टी के 20 सदस्यों ने राज्यपाल के विरुद्ध हंगामेपूर्ण विरोध का प्रदर्शन किया। वे राज्यपाल द्वारा अपनी प्रपौत्री को सिक्किम के कोटे से पांडिचेरी के मेडीकल कॉलेज में गलत तरीके से प्रवेश दिलाने और विदर्भ तथा राज्य के अन्य पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए बोर्ड के गठन में देरी करने के विरोध में प्रदर्शन कर रहे थे।[42] भारतीय जनता पार्टी के विधायकों ने दिसम्बर, 1985 ई. में ही यह निर्णय ले लिया था कि वे 6 जनवरी, 1986 ई. को विधानसभा में राज्यपाल के अभिभाषण का बहिष्कार राज्य-सरकार के विरुद्ध नहीं कर के राज्यपाल के प्रति विरोध प्रदर्शन करने हेतु करेंगे। राज्यपाल के विरुद्ध भाजपा का यह आरोप था कि जब वे सिक्किम के राज्यपाल थे तो उन्होंने अपने पद के प्रभाव का प्रयोग करते हुए अपनी प्रपौत्री को पांडिचेरी के प्रतिष्ठित जवाहरलाल नेहरू पोस्ट ग्रेज्यूएट मेडीकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में प्रवेश दिलाया था।[43] इस प्रकार से महाराष्ट्र में राज्यपाल-अभिभाषण के बहिष्कार के पीछे राज्यपाल के प्रति व्यक्तिगत विरोध करने की भावना ही कार्य कर रही थी, कोई नीति सम्बन्धी प्रश्न मुख्य नहीं था। लेकिन राज्यपाल का व्यक्तिशः विरोध अभिभाषण के समय नहीं किया जाना चाहिए था।

(7) 8 जनवरी, 1986 ई. को तमिलनाडु के राज्यपाल श्री सुन्दरलाल खुराना ने राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में बोलना प्रारम्भ ही नहीं किया था कि संपूर्ण विपक्ष ने द्रमुक के नेतृत्व में राज्य सरकार की दमनकारी नीतियों और नागरिक तथा पंचायत-संस्थाओं के चुनाव कराने में असफल रहने के विरोध में बहिष्कार किया। इसमें द्रमुक के अलावा दोनों साम्यवादी दल और जनता पार्टी भी शामिल हुई।[44] इससे राज्य विधानसभा में हंगामेपूर्ण स्थिति बनी।

(8) 27 फरवरी, 1986 ई. को बिहार के राज्यपाल श्री पी. वैंकटसुब्बया द्वारा राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में पढ़े जाने वाले अभिभाषण का विरोधस्वरूप इस कारण से बहिष्कार किया कि राज्यपाल विगत वर्ष किये गये वायदों (Commitment) का सम्मान करने में असफल रहे हैं। ज्यों ही राज्यपाल पी. वैंकटसुब्बया दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करने के लिए पहुँचे, त्यों ही विपक्ष के सभी सदस्य विधानसभा के मुख्य दरवाजे की तरफ धरना देकर आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि, बढ़ते भ्रष्टाचार, समाज के कमजोर वर्गों पर पुलिस-अत्याचार, और कानून तथा व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति के विरोध में जोर-शोर से नारे लगाने लगे। यह स्थिति तब तक जारी रही, जब तक कि राज्यपाल ने सदन नहीं छोड़ दिया। बाद में संवाददाता-सम्मेलन में विपक्ष के नेता श्री कर्पूरी ठाकुर और अन्य दलों के नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका इसके पीछे राज्यपाल के प्रति असम्मान प्रदर्शित करना नहीं था, बल्कि सरकार द्वारा पिछले बजट-सत्र में दिये गये अनेक आश्वासनों को पूरा नहीं किये

जाने के प्रति विरोध-प्रदर्शित करना था।[45] इस तरह से बिहार में भी राज्यपाल-अभिभाषण के समय शोर-शराबे का अभूतपूर्व वातावरण बना।

3 मार्च, 1986 ई. को पंजाब विधानसभा में जैसे ही राज्यपाल डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने अभिभाषण का पहला शब्द बोला तत्काल कांग्रेस (इ) के सभी सदस्य अपना स्थान छोड़ विधानसभा के फर्श पर बैठ गए और सरकार के विरुद्ध नारेबाजी करने के बाद विरोधस्वरूप 'वाक-आउट' कर गए। सदन के वातावरण में भारी शोरगुल हो गया, जिसके कारण प्रेस दीर्घा में अभिभाषण ठीक से सुनाई नहीं पड़ रहा था, और धरने पर बैठे 32 कांग्रेस (इं) विधायक सरकार विरोधी नारे लगा रहे थे।

कांग्रेस (इं) विधायक दल की नेता श्रीमती गुरबिन्दर कौर बरार ने राज्यपाल के अभिभाषण के साथ अपना "समानान्तर अभिभाषण" पढ़ना शुरू कर दिया। बाद में इस अभिभाषण की प्रतियाँ पत्रकारों को दिखाईं, जिसमें कहा गया कि अकाली सरकार की निष्क्रियता के परिणामस्वरूप पंजाब की हालत बद से बदतर होती जा रही है।[46] पंजाब में भी विपक्षी दलों का राज्यपाल-अभिभाषण के समय विरोध-प्रदर्शित करने के निर्णय के पीछे राज्य में कानून और व्यवस्था की बिगड़ती हुई स्थिति और आतंकवादी घटनाओं की भावना प्रमुख थी।

उपर्युक्त सभी मामलों में राज्यपाल-अभिभाषण के समय विपक्षी दलों का आचरण राज्य-विधानमंडलों में विघ्न उपस्थित करके सदन की कार्यवाही में बाधा उपस्थित करने का रहा।

(10) भाषा के प्रश्न को लेकर विवाद

24 मार्च, 1972 ई. को कर्नाटक (मैसूर) के राज्यपाल श्री मोहनलाल सुखाड़िया को राज्य की प्रादेशिक भाषा कन्नड़ नहीं जानने के कारण भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा। उनके द्वारा कन्नड़ में अभिभाषण को पढ़ने में असमर्थता व्यक्त कर देने के पश्चात् विधानसभा में भारी हंगामा हुआ और अनेक सदस्यों ने विधानसभा से बहिर्गमन भी किया। अभिभाषण पढ़ने की भाषा को लेकर यह अपने आप में पहला विवाद था। इसका किसी भी आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकता है कि किसी राज्यपाल को किसी भाषा-विशेष में ही अभिभाषण पढ़ने के लिए बाध्य किया जाये। इससे भाषाई-उग्रता की भावना को बढ़ावा मिलता है।

(11) विपक्ष द्वारा राज्यपाल-अभिभाषण का बहिष्कार

हरियाणा में भी राज्यपाल-अभिभाषण के समय विरोध प्रदर्शित किया गया। 17 फरवरी, 1986 ई. को विपक्षी दलों ने राज्यपाल एस.एम.एच. बर्नी के अभिभाषण का बहिष्कार करने का निर्णय लिया। राज्य में18 सदस्यीय लोकदल ने पहले ही विधानसभा से बाहर रहने का निर्णय लिया था, यद्यपि पंजाब समझौते के विरोध में उनके द्वारा दिये गये त्यागपत्रों को विधानसभाध्यक्ष श्री तारासिंह ने निरस्त कर दिया था। 4 सदस्यीय भाजपा ने भी राज्य में 23 जनवरी को 'रास्ता रोको' आन्दोलन के दौरान की गई फायरिंग

और लाठी चार्ज की घटनाओं से हुई तीन लोगों की हत्याओं के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करने हेतु राज्यपाल-अभिभाषण के बहिष्कार करने का निर्णय लिया। कांग्रेस (ज) के दो सदस्यों और एकमात्र निर्दलीय सदस्य ने भी सदन से बाहर रहने का निर्णय लिया। भाजपा ने अपने प्रदेशाध्यक्ष डॉ. मंगल सेन के नेतृत्व में राज्यपाल को एक ज्ञापन प्रस्तुत करते हुए 'रास्ता रोको' आन्दोलन के दौरान की गई ज्यादतियों की जाँच करने हेतु उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की अध्यक्षता में 'न्यायिक जाँच आयोग' के गठन की माँग की। भाजपा के ज्ञापन में राज्य-विधानसभा को भंग करने, नये आम चुनाव सम्पादित कराने और कांग्रेस (इ) को नया 'जनादेश' प्राप्त करने की माँग की गई। भाजपा विधायकों ने राज्यपाल से इस बात का भी निवेदन किया कि वे इस विधानसभा में अपना अभिभाषण नहीं पढ़ें, क्योंकि यह अपना 'प्रतिनिधि-स्वरूप' खो चुकी है और इसे एक क्षण भी बने रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। हरियाणा में विपक्षी दलों का अभिभाषण के समय का विरोध उनके भजनलाल-मंत्रिमंडल को हटाने की रणनीति का ही एक अंग था। राज्य में भजनलाल-मंत्रिमंडल के प्रति विरोध व्यक्त करने हेतु चौधरी देवीलाल के नेतृत्व में विपक्ष के अनेक विधायकों ने विधानसभा की सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया था।[47]

(12) राज्यपाल-अभिभाषण में पंजाब समझौते को स्वीकार नहीं किये जाने का स्वर

10 जुलाई, 1987 ई. को हरियाणा के राज्यपाल श्री एम.एम.एच. बर्नी ने नवगठित हरियाणा विधानसभा के प्रथम अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए केन्द्र सरकार से कहा कि पंजाब समझौते को स्वीकार करना हरियाणा के लिए संभव नहीं है, क्योंकि इससे प्रदेश की जनता के अधिकारों का हनन होता है। उन्होंने कहा कि केन्द्र सरकार पंजाब तथा हरियाणा के अन्तर्राज्यीय विवाद के मामले में कोई निर्णय करने से पूर्व उनकी सरकार से परामर्श करे। उनकी सरकार समस्याओं के हल के लिए केन्द्र द्वारा पंजाब को रियायतें देने के विरुद्ध नहीं है, किन्तु यह रियायत हरियाणा की जनता की कीमत पर नहीं दी जानी चाहिए। उन्होंने कहा कि पंजाब समझौता करते समय न तो हरियाणा सरकार से परामर्श किया गया और न ही हरियाणा की जनता के हितों का ध्यान रखा गया। उन्होंने कहा कि हरियाणा, पंजाब में शांति और समृद्धि चाहता है और अगर केन्द्र सरकार समस्या के हल की दृष्टि से पंजाब की जनता के लिए कुछ करती है, तो हम उसके विरुद्ध नहीं हैं, लेकिन यह कार्य हरियाणा की जनता के हितों की कीमत पर नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा कि चण्डीगढ़ के बारे में विवाद को अनावश्यक रूप से पेचीदा बना दिया गया है। उनकी सरकार 1970 के इन्दिरा गाँधी समझौते को लागू करने का स्वागत करेगी। उन्होंने कहा कि अगर चण्डीगढ़ पंजाब को दिया जाता है तो अबोहर और फाजिल्का हरियाणा को अवश्य दिया जाना चाहिए, और हरियाणा की नई राजधानी बनाने का पूरा खर्च केन्द्र सरकार को उठाना चाहिए। उन्होंने कहा कि दुर्भाग्य से पिछले कुछ वर्ष में यह धारणा बनी है कि पंजाब और हरियाणा के हित एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि दोनों के हितों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और यदि आवश्यक सद्भाव हो तो कोई वजह नहीं है कि सभी विवादों का हल न निकल पाए। श्री बर्नी ने कहा कि उनकी सरकार पंजाब सरकार के साथ बैठकर सभी अन्तर्राज्यीय विवादों को हल

करने के बारे में सवाल करने के लिए तैयार है। लेकिन उन्होंने स्पष्ट किया कि दीर्घकालीन समझौता निर्वाचित सरकार के साथ ही हो सकता है।[48] राज्यपाल-अभिभाषण में देवीलाल मंत्रिमंडल द्वारा घोषित नीतियों का स्पष्टीकरण मात्र था। इस अभिभाषण का सबसे सकारात्मक पक्ष यह था कि इसमें हरियाणा सरकार द्वारा पंजाब के साथ सहयोग कर के सभी विवादों का हल करने का न केवल स्पष्ट आश्वासन ही दिया गया, अपितु श्री देवीलाल के नेतृत्व वाली सरकार की भावी नीतियों के बारे में व्याप्त अनेक भ्रान्तियों का भी निराकरण किया गया था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल-अभिभाषण के समय विविध प्रकार के विवाद उपस्थित हुए। साथ ही अभिभाषण के समय शालीनता बरतने या संसदीय आचार-विचार के अनुरूप व्यवहार करने की परम्परा का भी निरन्तर ह्रास होता गया। फलस्वरूप राज्य-विधानमंडलों में शोर-शराबा, हंगामा, और अन्य अवांछनीय दृश्य उपस्थित होने की घटनाओं में निरन्तर अभिवृद्धि होती गई। इस सम्बन्ध में स्वस्थ-परम्पराओं के विकास की अपरिहार्यता सामने आ गई।

स्वस्थ संवैधानिक परम्पराएँ

राज्यपाल-अभिभाषण के सम्बन्ध में निम्नलिखित स्वस्थ परम्पराओं का विकास करना बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है—

(1) राज्य-विधानमंडल को सम्बोधित करते समय राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पूरा पढ़ना चाहिए। राज्यपाल को उन अंशों को भी पूरा पढ़ने का साहस दिखाना चाहिए, जिसमें उनके द्वारा लिये गये किसी नीति-सम्बन्धी कार्यों की आलोचना की गई हो।

(2) जहाँ तक संभव हो सके, हंगामेपूर्ण स्थिति का निराकरण करने के लिए राज्यपाल को सभी संभव प्रयास करने चाहिए। इसके बाद भी अगर स्थिति उत्तेजक बनी रहे तो राज्यपाल को पूरा अभिभाषण पढ़ना चाहिए। अपूर्ण अभिभाषण की आड़ में राज्यपाल पर अनुचित दोषारोपण किया जा सकता है।

(3) राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष होने के कारण राज्यपाल मंत्रिपरिषद् को उसके द्वारा अभिभाषण तैयार करते समय अपने उपयोगी सुझाव दे सकता है। अगर मंत्रिपरिषद् उस सलाह को स्वीकार करना, अपनी नीतियों और कार्यक्रम के अनुरूप नहीं समझती है तो राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् पर अपनी इच्छाओं को थोपने का कोई प्रयास नहीं करना चाहिए। मंत्रिपरिषद् जन-भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, और वह उसके अनुरूप अपने कार्यक्रम को लागू करने के लिए प्रतिबद्ध होती है। अतः उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्यपाल की इच्छाओं के अनुरूप अपनी नीतियों में परिवर्तन करे, या राज्यपाल-अभिभाषण में कोई संशोधन प्रस्तावित करे।

(4) राज्यपाल को मंत्रपरिषद् द्वारा अंतिम और निश्चयात्मक रूप से तैयार किये गये अभिभाषण में न तो संशोधन ही करना चाहिए, और न ही उसमें नवीन अंशों का समावेश कराने की कोशिश ही करनी चाहिए।

(5) राज्यपाल को सदन के अन्दर और बाहर, आवेश या उत्तेजना में आकर कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए जिससे कि विधानसभाध्यक्ष की गरिमा और सम्मान पर प्रतिकूल असर पड़े। उसे अपने संवैधानिक-क्षेत्राधिकार से आगे बढ़कर कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

(6) अस्वस्थता और अक्षमता की स्थिति में ही राज्यपाल को दूसरे व्यक्ति को अभिभाषण पढ़ने की अनुमति देनी चाहिए।

(7) राज्य-मंत्रिपरिषद् का भी यह उत्तरदायित्व है कि वह जहाँ तक संभव हो सके राज्यपाल द्वारा दिये गये उपयोगी सुझावों को ध्यान में रखकर ही अभिभाषण को तैयार करने का प्रयास करे।

(8) राज्य-मंत्रिपरिषद् का यह भी नैतिक दायित्व है कि वह राज्यपाल-अभिभाषण के धन्यवाद-प्रस्ताव पर पराजय के बाद बिना किसी बहानेबाजी के तुरन्त अपना त्यागपत्र दे दे। इसके बाद उसका एक क्षण भी सत्ता में बने रहना संवैधानिक नहीं माना जा सकता है।

(9) अनावश्यक विवाद से बचने हेतु मंत्रिपरिषद् को राज्यपाल पर वैयक्तिक स्तर पर लांछन नहीं लगाने चाहिएँ। इस प्रकार की कार्यवाही से दोनों ही संस्थाओं की गरिमा समाप्त हो जाती है। मंत्रिपरिषद् का यह प्राथमिक दायित्व है कि वह राज्यपाल-पद की गरिमा और प्रतिष्ठा की रक्षा करने हेतु सभी संभव प्रयास करे। राज्यपाल का भी यह दायित्व बन जाता है कि वह मंत्रिपरिषद् को संकट में डालने वाला कदम नहीं उठाये।

(10) राज्य-मंत्रिपरिषद् का यह दायित्व है कि वह राज्यपाल-अभिभाषण में अपनी नीतियों का स्पष्टतापूर्वक उल्लेख करे।

(11) राज्यपाल-अभिभाषण के समय राज्य-विधानमंडल के सदस्यों का कर्त्तव्यनिष्ठ और दायित्व-प्रेरित होकर आचरण करना आवश्यक है। जिस समय सदन में राज्यपाल अपना अभिभाषण पढ़ता है, तो विधायकों का यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वे पूर्ण शांति और धैर्य के साथ उसको सुनें। इस समय दलीय नेताओं का यह दायित्व बन जाता है कि वे सदन में अपने दल के सदस्यों पर प्रभावशाली नियंत्रण रखें। विपक्षी सदस्यों को इस बात को ध्यान में रखते हुए कि जब राज्यपाल अपना अभिभाषण पढ़ता है तो वह मंत्रिपरिषद् की नीतियों का बखान मात्र कर रहा है, अतः यह स्पष्ट है कि अभिभाषण के समय उठाई गई आपत्तियों और शंकाओं का राज्य-मंत्रिपरिषद् उत्तर अवश्य देगी। अतः राज्यपाल के अभिभाषण पढ़ते समय प्रदर्शन करना, व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्न उठाना, नारे लगाना और राज्यपाल पर अनावश्यक छींटाकशी करना अनावश्यक और व्यर्थ है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में, यही कहा जा सकता है कि राज्यपाल-अभिभाषण से सम्बन्धित सभी पक्षों द्वारा संसदीय परम्पराओं का उचित रूप से निर्वाह कर के ही न केवल सभी विवादों को समाप्त किया जा सक्ता है, अपितु स्वस्थ वातावरण का भी विकास किया जा सकता है।

संदर्भ

1. विस्तृत विवेचन के लिए देखिये, सिंह, रामप्रताप; राष्ट्रपति तथा राज्यपालों द्वारा सदनों के सम्बोधन का अधिकार; संसदीय पत्रिका, खंड 32, अंक 1, मार्च, 1986, पृष्ठ 5-12
2. दहिया, एम.एस.; ऑफिस ऑफ दी गवर्नर इन इण्डिया (ए क्रिटिकल कमेन्टरी), (संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1979), पृष्ठ 173
3. ए.आई.आर. 1967 (राजस्थान), पृष्ठ 123
4. रिपोर्ट ऑफ दि प्रिवीलेजेज कमेटी ऑफ दि राजस्थान असेम्बली, 1966
5. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, फरवरी 9, 1965
6. ए.आई.आर. कलकत्ता, 1966, 363
7. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, फरवरी 27, 1966, पृष्ठ 10
8. काश्यप, डॉ. सुभाष; दलबदल और राज्यों की राजनीति, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1970), पृष्ठ 371
9. जनसत्ता, नई दिल्ली, जनवरी 2, 1986, पृष्ठ 4
10. तत्रैव
11. तत्रैव
12. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जनवरी 7, 1986
13. हिन्दुस्तान दैनिक, नई दिल्ली, जनवरी 17, 1986, पृष्ठ 1
14. तत्रैव, फरवरी 6, 1986, पृष्ठ 3
15. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, फरवरी 7, 1986, पृष्ठ 1
16. दैनिक न्याय, अजमेर, जनवरी 21, 1986, पृष्ठ 1
17. नवभारत टाइम्स, जयपुर, फरवरी 27, 1988, पृष्ठ 1
18. तत्रैव, मार्च 7, 1988, पृष्ठ 1
19. काश्यप, डॉ. सुभाष, उपर्युक्त, पृष्ठ 377
20. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, मार्च 7, 1969
21. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, मार्च 7, 1969, पृष्ठ 4
22. तत्रैव, मार्च 11, 1969, पृष्ठ 1
23. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, मार्च 18, 1969
24. लोकसभा वाद-विवाद, 1969, भाग 25, कालम 297-98
25. ए.आई.आर. कलकत्ता, 198 (208-09)
26. स्टेट्समैन, नई दिल्ली, मार्च 12, 1969, पृष्ठ 9
27. नेशनल हैरल्ड, नई दिल्ली, मार्च 13, 1969
28. लोकसभा वाद-विवाद, 1969, भाग 25, कालम 320
29. दिनमान, नई दिल्ली, अगस्त 28, सितम्बर 3, 1983, पृष्ठ 18
30. फड़िया, बाबूलाल एवं जैन, श्रीपाल; भारतीय संघ व्यवस्था (कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1982), पृष्ठ 335-336
31. जनसत्ता, नई दिल्ली, मार्च 5, 1986, पृष्ठ 3

32. तत्रैव।
33. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, अप्रैल 2, 1967
34. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अप्रैल 6, 1977
35. दिनमान, नई दिल्ली, जुलाई 13-19, 1980, पृष्ठ 19
36. तत्रैव, पृष्ठ 19-20
37. दिनमान, नई दिल्ली, बहुमत भजनलाल का, हुल्लड़ देवीलाल का, जुलाई 4-10, 1982, पृष्ठ 22
38. तत्रैव।
39. दिनमान, नई दिल्ली, जुलाई 4-10, 1982, पृष्ठ 23
40. तत्रैव।
41. दिनमान, नई दिल्ली, मार्च 18-22, 1984, पृष्ठ 32
42. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जनवरी 8, 1986, पृष्ठ 5
43. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, दिसम्बर 29, 1985, पृष्ठ 9
44. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, जनवरी 10, 1986, पृष्ठ 5
45. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, मार्च 1, 1986, पृष्ठ 10
46. नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, मार्च 5, 1986, पृष्ठ 1
47. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, फरवरी 19, 1986, पृष्ठ 5
48. नवभारत टाइम्स, जयपुर, जुलाई 11, 1984, पृष्ठ 1

अध्याय -16

राज्यपाल बनाम मुख्यमंत्री

राज्यपाल को राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष माना जाता है। उसको सहायता और सलाह देने के लिए मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् कार्य करती है। सामान्यतः राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह से ही कार्य करता है। कुछ विशेष परिस्थितियों में ही वह अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग कर सकता है।

संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करते समय राज्यपाल का कार्य राज्य-मंत्रिपरिषद् को सलाह देना, प्रोत्साहन देना और चेतावनी देने का है। राज्यपाल को ऐसा करते समय मंत्रिपरिषद् के मित्र, अभिभावक, मार्गदर्शक और सलाहकार की भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। ऐसा करने पर ही राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के बीच मधुर सम्बन्ध बने रह सकते हैं। ऐसा करने के लिए राज्यपाल को अपनी दोहरी भूमिका — राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय अभिकर्त्ता, के बीच सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है। इसमें असंतुलन होने की स्थिति में संघर्ष और तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है।

संघर्ष और तनाव की राजनीति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अधिकांश राज्यपाल और मुख्यमंत्रियों के बीच सम्बन्ध मधुर रहे हैं, और अवांछनीय संघर्ष की परिस्थितियाँ उपस्थित नहीं हुई हैं। लेकिन कतिपय मामलों में राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के बीच खुला संघर्ष रहा। इस सम्बन्ध में निम्न राज्यों के प्रमुख उदाहरण गिनाये जा सकते हैं —

(1) पश्चिमी बंगाल में संघर्षपूर्ण स्थिति

इस राज्य के राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के बारे में निम्नलिखित दो उदाहरणों का अध्ययन किया जा सकता है —

प्रथम, सन् 1967 ई. के बाद पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल और वामपंथी संयुक्त मोर्चा सरकार में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। 20 नवम्बर, 1967 ई. को राज्यपाल श्री धर्मवीर द्वारा श्री अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार को बर्खास्त करने के निर्णय के बाद संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने राज्यपाल के विरुद्ध 'खुले संघर्ष' की

घोषणा-सी कर दी थी। फरवरी, 1969 ई. के मध्यावधि चुनाव में संयुक्त मोर्चा सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद मुख्यमंत्री श्री अजयकुमार मुखर्जी ने श्री धर्मवीर को राज्यपाल-पद से हटाने के लिए केन्द्रीय सरकार को पत्र लिखा। यद्यपि केन्द्रीय सरकार ने उस समय तो संयुक्त मोर्चा सरकार की माँग को अस्वीकार कर दिया। लेकिन अन्ततोगत्वा राज्य सरकार के विरोध को ध्यान में रखकर स्वयं राज्यपाल लम्बी छुट्टियों में चले गये। उसके बाद उन्हें मैसूर का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

द्वितीय, सन् 1982 ई. के चुनाव में पुनः श्री ज्योति बसु के नेतृत्व में वामपंथी संयुक्त मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार और राज्यपाल अनन्तप्रसाद शर्मा में खुला संघर्ष और टकराहट की स्थिति देखने को मिली। अनेक मुद्दों पर दोनों के बीच पारस्परिक अविश्वास अपनी चरम स्थिति में पहुँच गया। प्रथम, कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को भरने के मामले को लेकर मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल में खुला संघर्ष सामने आया। इस पद के लिए सीनेट द्वारा जो तीन नाम सुझायें गये उनमें से सबसे अधिक मत पाने वाले प्रत्याशी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति की हैसियत से राज्यपाल को भी पसन्द थे। लेकिन राज्य सरकार किसी कारणवश उन्हें नहीं चाहती थी, इसलिए फैसला बदलने के लिए राज्यपाल पर दबाव डाला जाने लगा, लेकिन कोई असर नहीं हुआ और संतोष भट्टाचार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति-पद पर स्थापित रहे। उनकी इस नियुक्ति को सीनेट के सदस्यों के बहुमत का ठोस आधार था, इसलिए राज्य सरकार कुछ करने में सक्षम नहीं थी। राज्यपाल से मुठभेड़ का दूसरा मौका राज्य सरकार को जल्दी ही मिल गया। मुद्दा था बर्दवान विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति। यहाँ भी तीन नामों की एक सूची तैयार की गयी, क्योंकि यहाँ मतदान के आधार पर नियुक्ति का प्रचलन नहीं था। इसलिए कुलाधिपति उर्फ राज्यपाल ने अपने विवेक का प्रयोग करते हुए शंकरीप्रसाद बनर्जी को इस पद पर नियुक्त कर दिया। राज्य के उच्च शिक्षा मंत्री श्री शंभु घोष डॉ. प्रसाद घोष के पक्ष में थे, लेकिन जब कुलाधिपति उर्फ राज्यपाल ने उनकी नहीं सुनी तो वामपंथी सरकार उनके रवैये को पक्षपातपूर्ण बताते हुए उनकी कड़ी आलोचना करने लगी। माकपा (मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी) के एक प्रवक्ता के अनुसार राज्यपाल ने डॉ. बनर्जी की नियुक्ति पर पुनर्विचार इसलिए नहीं किया, क्योंकि यह सब कुछ कांग्रेस (इ) की शह पर किया गया है।[1] इस तरह से कुलपतियों की नियुक्ति को लेकर राज्यपाल और सरकार का विवाद गहराता गया। तीसरे, कलकत्ता विश्वविद्यालय विधेयक में संशोधन किये जाने के राज्य सरकार के प्रस्ताव पर राज्यपाल ने स्वीकृति नहीं दी, बल्कि आगे की कार्यवाही के लिए राष्ट्रपति को सुपुर्द कर दिया। राज्यपाल का कहना था कि "केन्द्र सरकार संसद के आगामी सत्र में शिक्षा से सम्बद्ध एक व्यापक विधेयक पारित करने वाली है, इसलिए कलकत्ता विश्वविद्यालय के विधेयक में अगर कोई संशोधन किये जाने की आवश्यकता हो तो उसी दौर में किया जा सकता है, तब तक इन्तजार करना पड़ेगा।"[2] राज्य की वामपंथी संयुक्त मोर्चा सरकार ने केन्द्र-सरकार से राज्यपाल को हटाने की माँग की। राज्य के मुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु ने अपनी दिल्ली यात्रा के

प्रत्येक अवसर पर संवाददाताओं से यही कहा कि "मैं श्री शर्मा को पश्चिमी बंगाल से हटाने के लिए प्रधानमंत्री को राजी करवाने पर तुला हुआ हूँ, और प्रधानमंत्री के कहने पर राज्यपाल के विरुद्ध सारे अभियोग लिखित रूप में पेश करूँगा।"[3] इस तरह से राज्यपाल और राज्य सरकार में व्याप्त कटुता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी।

18 जून, 1984 ई. को मुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु ने प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को लिखे गये अपने पत्र में कहा था कि "वह शर्मा को इस बात के लिए राजी करें कि कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा बर्दवान विश्वविद्यालय के बारे में जो निर्णय अपनी इच्छा से उन्होंने लिए हैं – उन्हें बदलकर राज्य सरकार की इच्छा के अनुसार नये नियुक्ति-पत्र जारी करें।" पत्र में यह भी अनुरोध किया गया था कि अगर यह संभव नहीं हो सके तो उन्हें बंगाल से हटाकर कहीं और भेजा जाय, जिससे सरकार और राज्यपाल के बीच असहयोग के वातावरण का अवसर न हो सके।[4] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार राज्यपाल को हटाने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थी। मुख्यमंत्री ने राज्यपाल पर आरोप लगाते हुए कहा कि 'जो राज्यपाल केन्द्र का खैरख्वाह होने के नाते, उन अधिकारों से नाजायज फायदा उठाये तो उसकी मनमानी की ओर ध्यान आकर्षित करना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है?' इन 'नाजायज फायदों' का खुलासा चाहने पर मुख्यमंत्री ने कहा कि "राज्यपाल अपने काम से बार-बार दिल्ली आते जाते हैं, ... राज्यसभा में अपना स्थान सुरक्षित करवाने के लिए इंका आलाकमान के इर्द-गिर्द चक्कर लगाना शायद उनके लिए जरूरी है। लेकिन इसके लिए क्या वह राज्य सरकार का धन खर्च करने के हकदार हैं? . . . . ." राज्यपाल पर अलोकतांत्रिक होने का आरोप लगाते हुए मुख्यमंत्री श्री बसु ने कहा कि "भैरवदत्त पाण्डे, त्रिभुवन नारायण सिंह, किसी से हमारे मतभेद होते हुए भी बहुत सतही तौर पर थे, क्योंकि उन सबका काम करने का तरीका लोकतांत्रिक रहा। लेकिन वर्तमान राज्यपाल ने लोकतंत्र को ताक में रखकर मनमानी चलाने की मुहिम छेड़ी है।"[5] इस खुली लड़ाई में राज्यपाल अपनी चुप्पी साधे रहे, सिर्फ एक बार कुलपतियों की नियुक्ति को लेकर बोले थे, "इसमें मेरा कोई निजी रिश्ता नहीं है। मैं तो इन लोगों से मिला तक नहीं। सिर्फ योग्यता के आधार पर मैंने उन्हें नियुक्त किया . . . . ।" उन्होंने राज्य सरकार पर आरोप लगाया कि कुलपतियों की नियुक्ति को मुद्दा बनाकर शिक्षा के क्षेत्र में राजनीति थोपी जा रही है, जिसके तहत राज्य सरकार और वामपंथी सांसदों और विधायकों ने उनका पूरी तरह बायकाट किया है। उन्हें यह मालूम है कि जो कुछ उन्होंने किया, वह राज्यपाल के संवैधानिक अधिकारों की परिधि में ही किया। 'मेरा विरोध सिर्फ इसलिए किया जा रहा है कि वे मुझे पसन्द नहीं करते।' राजनैतिक जीवन में बने रहने के लिए नई दिल्ली के चक्कर लगाने के आरोप का भी शर्मा ने खण्डन किया। राज्यपाल की गतिविधियों का पता राष्ट्रपति को रहता है। उन्हीं की सहमति से मैं दिल्ली आता हूँ। इसलिए मेरे ये दौरे आधिकारिक होते हैं। फिर करदाताओं का पैसा बर्बाद करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।[6].... अन्त में, केन्द्रीय सरकार ने श्री अनन्तप्रसाद शर्मा को राज्यपाल-पद से हटा दिया।

(2) सिक्किम में व्यक्तिगत-वैमनस्य

सिक्किम में भी राज्यपाल होमी.जे.एच. तल्यार खां और मुख्यमंत्री श्री नर बहादुर भंडारी में संघर्ष और टकराव ने राज्य में विषम स्थिति उत्पन्न कर दी थी। राज्यपाल द्वारा प्रशासन में सीधा हस्तक्षेप किया जाता रहा। राज्यपाल ने जब विभिन्न विभागों के सचिवों को बुलाकर सीधे निर्देश देने शुरू किये तो मुख्यमंत्री ने पहले मौखिक रूप से और बाद में लिखित रूप से इस बारे में शिकायत की। प्रधानमंत्री को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने कहा कि राज्यपाल चाहते हैं कि उनकी पत्नी को भी पुलिस 'एस्कोर्ट' कार मिलनी चाहिए। श्री तल्यार खां भला कहाँ पीछे रहने वाले थे। उन्होंने दिल्ली आकर यह प्रचार आरम्भ कर दिया कि श्री भंडारी को प्रशासन का कतई अनुभव नहीं है, और सारा प्रशासन शिथिल पड़ा है। अगर वे हस्तक्षेप न करें तो सारा प्रशासन ही ठप्प हो जाए। आकाशवाणी को दिए गए एक 'इण्टरव्यू' में ऐसा लगता था कि विकास की सारी योजनाएँ उन्होंने खुद ही तैयार की हैं, तथा खुद ही केन्द्र सरकार से स्वीकृत भी करवायी हैं। जुलाई के अन्त में कांग्रेस आलाकमान के नेता भी परेशान हो गये, क्योंकि उन्हें यह रपट मिली थी कि श्री तल्यार खां सत्तारूढ़ दल के सदस्यों को श्री भडारी के खिलाफ उकसा रहे हैं। वह यह चाहते थे कि पार्टी के कुछ असंतुष्ट विधायक दिल्ली जाकर श्री भंडारी के खिलाफ आलाकमान को ज्ञापन दें। सामान्यतया राज्यपाल खुलेआम राजनैतिक गतिविधियों में संलग्न नहीं होते, यद्यपि पर्दे के पीछे वे सक्रिय रहते हैं। लेकिन श्री तल्यार खां जब भी दिल्ली में आते हैं तो काफी समय संसद के केन्द्रीय कक्ष में गुजारते हैं।......... श्री भंडारी और तल्यार खां की यह लड़ाई उन दिनों 'चरमसीमा' पर पहुँच गई जब श्रीमती इन्दिरा गाँधी सिक्किम आयीं। वहाँ श्रीमती गाँधी की एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। यह सभा काफी विशाल होने वाली थी तथा इसके लिए बड़े जोर-शोर से तैयारियाँ की गयी थीं। राज्य के मुख्यमंत्री होने के नाते यह स्वाभाविक ही था कि श्री भंडारी इस सभा की अध्यक्षता करते। लेकिन तल्यार खां भी यह अवसर खोना नहीं चाहते थे, जिससे कि वे श्रीमती गाँधी के प्रति अपनी वफादारी दिखा सकें। अन्त में, उन्होंने सभी परम्पराओं को ताक में रखकर सत्तारूढ़ दल द्वारा आयोजित इस सभा में जाने का निर्णय किया। चूँकि उन्हें मंच पर नहीं बिठाया जा सकता था, अतः उनके लिए विशिष्ट व्यक्तियों के स्थान में ही विशेष व्यवस्था की गई। इस घटना के बाद श्री भंडारी ने प्रधानमंत्री श्रीमती गाँधी को परोक्ष रूप से बता दिया था कि वे अधिक समय तक ऐसे राज्यपाल को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे।[7] सिक्किम में मुख्यमंत्री भंडारी और राज्यपाल के संघर्ष की सभी सीमाएँ समाप्त हो गईं, और यह वैमनस्य व्यक्तिगत-स्तर तक जा पहुँचा। अन्त में, केन्द्र ने राज्यपाल को अपने पद से हटा दिया। उन्हें इटली में भारत का राजदूत नियुक्त किया गया।

(3) केरल में संघर्ष की स्थिति

प्रथम, सन् 1982 ई. में केरल में श्री के. करुणाकरन के नेतृत्व वाली लोकतांत्रिक संयुक्त मोर्चे की सरकार और राज्यपाल श्रीमती ज्योति वेंकटचलम में ठन गई। मुख्यमंत्री

तथा अन्य मंत्रियों ने उन सभी आदेशों पर अमल करने पर रोक लगा दी, जो राज्य में राष्ट्रपति-शासन के दौरान जारी किये गये थे। जिन निर्णयों पर स्थगन आदेश जारी किये गये थे – जाली अंकों के मामले में छात्रों को निलम्बित करने के आदेश और कोचीन के भूतपूर्व शाही परिवार की बहुमूल्य संपत्ति की खरीद सम्बन्धी आदेश, इत्यादि।[8] राज्यपाल को भी राष्ट्रपति शासन के समय लोकप्रिय मंत्रिमंडल द्वारा लिये गये निर्णयों को नहीं बदलना चाहिए था।

द्वितीय, केरल में राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा और मुख्यमंत्री ई.के. नयनार के नेतृत्व वाले वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे के मंत्रिमंडल में संघर्षपूर्ण स्थिति रही। 2 फरवरी, 1989 ई. को कांग्रेस (इ) सदस्यों के बहिर्गमन के बाद राज्य-विधानसभा द्वारा एक प्रस्ताव पारित करके राज्यपाल के आचरण पर असंतोष व्यक्त किया गया। प्रस्ताव में राज्यों के विश्वविद्यालयों की सीनेट में राज्य सरकार और विश्वविद्यालयों की सिफारिशों के विरुद्ध मनमाने ढँग से राज्यपाल द्वारा नियुक्ति करने पर क्षोभ व्यक्त किया गया। प्रस्ताव पर एक घंटे की बहस प्रारम्भ करते हुए मार्क्सवादी साम्यवादी दल के ओ. भारतन ने कहा कि सरकार की सिफारिशों को नजरअंदाज कर राज्यपाल ने टकराव की शुरूआत की, और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का उल्लंघन किया।

विपक्षी कांग्रेस (इ) सदस्यों ने राज्यपाल के विरुद्ध प्रस्ताव को पारित होने से रोकने के लिए पूर्ण प्रयास किया। उनकी यह आपत्ति थी कि सरकार बेवजह राज्यपाल के आचरण पर सवाल उठा रही है। इसके पूर्व विधानसभाध्यक्ष वर्कला राधाकृष्णन ने विपक्ष की सभी आपत्तियों को अस्वीकार करते हुए यह व्यवस्था दी कि सदन को राज्यपाल को वापस बुलाने का प्रस्ताव भी पारित करने का अधिकार है। उन्होंने इलाहबाद उच्च न्यायालय के निर्णय का उदाहरण देते हुए कहा कि राज्यपाल और कुलाधिपति दोनों का अलग 'अस्तित्व' है, अतः विपक्ष का यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता कि दोनों पदों को अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने स्व. आर.आर. दिवाकर के लेखों का भी उदाहरण देते हुए कहा कि राज्यपाल जब कुलाधिपति की हैसियत से कार्य करता है तो उसे मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार काम करना चाहिए। उन्होंने कहा कि अगर बहस के लिए यह मान भी लिया जाए कि राज्यपाल और कुलाधिपति के पद को अलग नहीं किया जा सकता, तब भी सदन को कुलाधिपति के कार्य पर विचार करने का पूरा अधिकार है।

अध्यक्ष की इस व्यवस्था के बाद विपक्षी कांग्रेस (इ) सदस्यों ने यह कहते हुए सदन से बहिर्गमन किया कि– आज का दिन विधानमंडल के इतिहास में काले अक्षरों में लिखा जाएगा, क्योंकि संवैधानिक सिद्धान्तों को ताक में रखते हुए राज्यपाल के क्रियाकलापों को बहस का मुद्दा बनाया गया।[9] निस्संदेह राज्य-विधानसभा ने राज्यपाल के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर के अभूतपूर्व और असाधारण कार्य किया। इसकी सटीक समीक्षा करते हुए राजस्थान पत्रिका ने अपने सम्पादकीय में ठीक ही लिखा था —

"केरल विधानसभा ने राज्यपाल के विरुद्ध प्रस्ताव पास करके ऐतिहासिक निर्णय किया है और कई राजनीतिक और संवैधानिक सवाल खड़े कर दिये हैं। अब तक यह

परम्परा रही है कि राज्यपाल की विधानसभा में आलोचना नहीं की जा सकती। इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो राज्यपाल राज्य सरकार का संवैधानिक अंग होते हुए भी वह विधानसभा का अंग नहीं होता। वह राज्य सरकार की ओर से केवल नीतिगत वक्तव्य देने के लिए वर्ष में एक बार सदन में आता है। यदि सदन में उसकी आलोचना का सिलसिला शुरू हो गया तो वह जवाब देने सदन में नहीं आ सकता। दूसरे राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है और उस पद की गरिमा को बनाये रखना सरकार और विधायिका – दोनों का दायित्व है। ऐसी हालत में राज्यपाल पर यह नैतिक दायित्व स्वतः आ जाता है कि वह ओछी राजनीति से दूर रहे और निष्पक्ष और तटस्थ रह कर गरिमामय तरीके से अपने संवैधानिक दायित्वों का निर्वहन करता रहे। पिछले वर्षों में राज्यपालों का आचरण ऐसा नहीं रह गया है जिस पर कोई अंगुली न उठा सके। सत्तारूढ़ पार्टी ने विभिन्न राज्यों में राज्यपालों का राजनीतिक लाभ के लिए जो दुरुपयोग किया उसके कारण राज्यपालों का सम्मान ही समाप्त हो गया और अब तो इस पद को बनाये रखने का औचित्य ही अपने आपमें विवादास्पद हो गया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इन हालात में भी विधानसभा में राज्यपाल के पद को आलोचना से परे रखना उचित होगा? केरल की विधानसभा ने इसका उत्तर दे दिया है। यदि राज्यपाल मनमाने ढंग से कानून के विरुद्ध कोई आचरण करता है तो उसकी आलोचना क्यों नहीं हो सकती? यदि राज्यपाल अपने संवैधानिक अधिकारों का अतिक्रमण करके राजनीति में लिप्त हो जाता है तो क्या विधानसभा को ऐसे राज्यपाल को केन्द्र से वापस बुलाने के लिए कहने का अधिकार नहीं होना चाहिए? हमारा संविधान इन सब प्रश्नों पर मौन है, क्योंकि संविधान निर्माताओं ने शायद इस बात की कल्पना ही नहीं की होगी कि राज्यों और केन्द्र में कभी अलग-अलग पार्टियों की सरकारें बनीं और केन्द्र में कोई ऐसा नेतृत्व आ गया जो सभी राजनीतिक मर्यादाओं को तिलांजलि देकर राज्यपालों का राजनीतिक लाभ के लिए उपयोग करने लगा तो इस पद की गरिमा का क्या होगा?

दूसरा प्रश्न यह है कि राज्यपाल कई राज्यों के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति भी होते हैं। क्या कुलाधिपति के रूप में उनके लिए मंत्रिपरिषद् की सलाह से काम करना अनिवार्य है? क्या कुलाधिपति के रूप में विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में वे कोई मनमाना निर्णय ले सकते हैं? क्या कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल की संवैधानिक हैसियत वही है जो राष्ट्रपति की सर्वोच्च सेना के कमाण्डर के रूप में है? इसमें कोई शक नहीं कि राज्यपाल को कुलाधिपति के रूप में स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार है और इस मामले में वह मंत्रिमण्डल की सलाह से बन्धा हुआ नहीं है, लेकिन वह कानून से अवश्य बन्धा हुआ है जो कुलाधिपति के रूप में उसे अधिकार प्रदान करता है। अलग-अलग राज्यों में इस सम्बन्ध में अलग-अलग प्रावधान हैं। केरल के कानून के मुताबिक विश्वविद्यालयों की सीनेट में मनोनयन के लिए राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य कर सकता है। यह प्रावधान उचित है अथवा अनुचित, यह दूसरा प्रश्न है और क्या इस प्रावधान के बल पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता में अनुचित सरकारी दखल की आशंका

पैदा नहीं होती? जो भी हो केरल की राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा ने सीनेट में मनोनयन के लिए राज्य सरकार ने जो नाम सुझाये थे, उन्हें काट दिया और अपनी ओर से कुछ दूसरे नाम जोड़ दिये। यदि रामदुलारी सिन्हा को यह आपत्ति है कि राज्य सरकार विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता में दखल देना चाहती थी, तो क्या उन्होंने अपने मर्जी के नाम जोड़कर कानूनी शिकनी नहीं की और क्या राज्य सरकार के बजाय, कांग्रेस (इ) की दखल-दखलंदाजी को प्रोत्साहित नहीं किया, जो सरकारी दखल से भी कहीं ज्यादा खतरनाक हो सकती है? जहाँ तक राज्यपाल और राष्ट्रपति की हैसियत का सवाल है, इन दोनों में भारी अन्तर है। राष्ट्रपति निर्वाचित होता है और राज्यपाल मनोनीत, इसलिए राष्ट्रपति और राज्यपाल पद की तुलना नहीं की जा सकती। राष्ट्रपति संसद की दोनों सदनों की आलोचना से परे हो सकता है, क्योंकि वह राष्ट्र का निर्वाचित संवैधानिक अध्यक्ष है और राज्यपाल केन्द्रीय सरकार की ओर से मनोनीत राज्य में उसका प्रतिनिधि मात्र होता है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में तो उसकी गरिमा और प्रतिष्ठा का क्रमशः जो क्षरण हो रहा है, उसमें यह बात कतई अप्रासंगिक हो गयी है कि उसे विधानसभा की आलोचना से परे रखा जाए। राज्यपालों का आचरण यदि आपत्तिजनक है तो निश्चित रूप से उसकी आलोचना का अधिकार विधानसभा को होना चाहिए। दूसरा प्रश्न यह है कि राज्यपालों को विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति नियुक्त करना क्यों जरूरी होना चाहिए? विश्वविद्यालयों की अपनी प्रशासनिक व्यवस्था है। सभी नीतिगत निर्णय सिण्डीकेट और सीनेट की बैठकों में लिये जाते हैं। सम्पूर्ण प्रशासनिक कार्यभार कुलसचिव संभालता है।

कुलपति विश्वविद्यालय परिवार का मुखिया होता है ऐसी दशा में कुलाधिपति के पद की उपयोगिता ही क्या रह जाती है? विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण रखने के लिए कुलाधिपति के पद का सृजन किया गया है, किन्तु जब केन्द्र और राज्य में अलग-अलग दलों की सरकारें हों तो जाहिर है दोनों पक्ष अपना-अपना वर्चस्व कायम करने का प्रयास करेंगे। ऐसी दशा में कुलाधिपति और सरकार के बीच टकराव अवश्यंभावी है। केरल में यही हुआ है। केरल की विधानसभा ने राज्यपाल के खिलाफ प्रस्ताव पारित करके उचित फैसला किया है और अन्य राज्यों को भी रास्ता दिखाया है। राज्यपालों और कुलाधिपतियों के औचित्य पर इस प्रस्ताव ने फिर से एक प्रश्न-चिह्न लगाया है जिसका उत्तर संविधान-विशेषज्ञों और राजनेताओं को आज नहीं तो कल निश्चित रूप से खोजना होगा।"[10]

केरल के राज्यपाल के विरुद्ध संघर्ष यहीं तक सीमित नहीं रहा। 16 मार्च, 1989 को सत्तारूढ़ वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे से सम्बद्ध सात संसद सदस्यों ने राष्ट्रपति आर. वैंकटरमण से भेंटकर राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा को हटाने की माँग की। राष्ट्रपति को दिये गए ज्ञापन में उन्होंने आरोप लगाया कि राज्यपाल राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त है।[11]

राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा और सत्तारूढ़ मोर्चे में तनाव का वातावरण राज्यपाल की अपदस्थगी तक बराबर बना रहा। इसका प्रमाण इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि 17 फरवरी, 1980 को राष्ट्रपति के निर्देश पर जब रामदुलारी सिन्हा ने अपने पद से

त्यागपत्र दिया तो इस पर हर्ष व्यक्त करते हुए मुख्यमंत्री ई.के. नयनार ने कहा कि श्रीमती सिन्हा को केन्द्र में सरकार बदलने के तुरन्त बाद अपना स्तीफा दे देना चाहिए था। श्रीमती सिन्हा के त्यागपत्र देने के साथ ही संघर्ष के युग की समाप्ति हो गई।[12]

(4) तमिलनाडु में राज्यपाल और मुख्यमंत्री के कटुतापूर्ण सम्बन्ध

तमिलनाडु में भी राज्यपाल श्री सुन्दरलाल खुराना द्वारा मंत्रिपरिषद् की सलाह लिये बिना ही मदुराई विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में डॉ. एस. कृष्णास्वामी की नियुक्ति किये जाने का निर्णय भी विवाद का विषय बना। राज्यपाल का कहना था कि विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल के कार्य संविधान में उस रूप में उल्लिखित नहीं हैं कि वह मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य करेगा। इस मामले में मंत्रिमंडल का विचार था कि राज्यपाल को ऐसा करते समय मंत्रिपरिषद् की पूर्वानुमति ले लेनी चाहिए थी। श्री खुराना इस तर्क से सहमत नहीं थे। इसमें राज्यपाल की ही विजय रही।[13] राज्यपाल द्वारा की गई इस नियुक्ति को सरासर राज्य सरकार की अवहेलना बताते हुए तमिलनाडु के शिक्षामंत्री ने पत्रकारों के समक्ष आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि – इस नियुक्ति सम्बन्धी किसी भी प्रकार की राय मुख्यमंत्री से नहीं ली गई। शिक्षामंत्री ने संवैधानिक अधिकार का हवाला देते हुए कहा कि मुख्यमंत्री से विचार-विमर्श करना जरूरी था।[14] अन्त में, डॉ. एस. कृष्णास्वामी के कुलपति के रूप में कार्यभार संभालने के साथ ही यह विवाद समाप्त हो गया। 20 मई, 1986 ई. को तमिलनाडु के राज्यपाल श्री सुन्दरलाल खुराना द्वारा मुख्यमंत्री एम.जी. रामचन्द्रन को जो पत्र लिखा गया, उसके 'इण्डिया टूडे' में प्रकाशन से मुख्यमंत्री भड़क उठे और उन्होंने राज्य के मुख्य सचिव का तबादला कर दिया। श्री खुराना के पत्र की शुरूआत इस शिकायत के साथ हुई "काफी अरसे से मुझे सरकार के नीति सम्बन्धी निर्णयों की जानकारी समाचार पत्रों के माध्यम से मिल रही है, जहाँ तक विधायिका सम्बन्धी मामलों का सवाल है, उसकी जानकारी भी मुझे तभी मिल सकती है, जब राज्यपाल के संदेश की आवश्यकता हो।" इसके बाद उन्होंने संविधान के अनुच्छेद-167 और कार्यविधि सम्बन्धी नियमों का भी हवाला दिया है। उन्होंने शिकायत की है कि 28 अक्टूबर, 1985 ई. को हुई मंत्रिमंडल की बैठक की प्रति उन्हें मार्च, 1986 में प्राप्त हुई। इसके बाद उन्होंने लिखा है "ऐसा लगता है कि 3 दिसम्बर, 1985 के बाद शायद मंत्रिमंडल की कोई बैठक हुई ही नहीं है। उसके बाद संभवत: 11 मार्च, 1986 ई. को बजट पर विचार-विमर्श करने के लिए ही मंत्रिमंडल की बैठक हुई।" यह पत्र श्री खुराना ने 20 मई, 1986 को लिखा था। इससे पता चलता है कि साढ़े पांच माह की अवधि में मंत्रिपरिषद् की केवल एक ही बैठक हुई। राज्यपाल खुराना ने एम.जी. रामचन्द्रन को लिखे अपने पत्र में यह भी स्मरण दिलाया कि "हाल ही में जो नीति सम्बन्धी निर्णय लिये गये हैं, ऐसा लगता है कि उन पर मंत्रिमंडल की बैठक में विचार नहीं हुआ जैसाकि कार्यविधि-सम्बन्धी नियमों की दूसरी अनुसूची की 16वीं धारा में प्रावधान है।" यह नियम संविधान के अनुच्छेद-166(3) और अनुच्छेद-77(3) के तहत बनाये गये हैं। राज्यपाल के पत्र में अन्त में हालात को सुधारने का सुझाव भी दिया गया

है। यह पत्र मिलने के दस दिन बाद ही एम.जी. रामचन्द्रन ने इसका जवाब दिया और कोताहियों की जिम्मेदारी मुख्य सचिव पर डाल दी। उन्होंने लिखा "यदि इस दिशा में कोई गफलत रही है तो मैं यह महसूस करता हूँ कि यदि मुझे इन मामलों में मुख्य सचिव उचित सलाह देते तो उससे बचा जा सकता था। मुख्य सचिव और सम्बन्धित वरिष्ठ अधिकारियों को यह निर्देश दे दिये गये थे कि वे नियमों की अनुपालना का ध्यान रखें।" पत्र के अन्त में हालात सुधारने का आश्वासन भी दिया गया।[15] यदि यह मान भी लिया जाए कि मुख्य सचिव गलती पर थे तो इसकी सूचना एम.जी. रामचन्द्रन को 20 मई को मिल गई थी। मुख्य सचिव को तबादले की सजा देने में उन्हें दो महीने लग गए, ठीक 20 जुलाई को मुख्य सचिव का स्थानान्तरण हुआ, लेकिन इन सबके लिए मुख्य सचिव को दोषी ठहराना ठीक नहीं होगा। जो कुछ भी हुआ है, उसकी पूरी जिम्मेदारी मुख्यमंत्री पर है। संविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार राज्यपाल को सूचना देने का दायित्व मुख्यमंत्री पर ही है। कार्यविधि सम्बन्धी नियम 19(1) में मुख्यमंत्री को ही मंत्रिपरिषद् की बैठक बुलाने का अधिकार है। बाकी काम जिसमें शेष मंत्रियों को बैठक के समय, स्थान और कार्यसूची की सूचना देना शामिल है, मुख्य सचिव का है। नियम 19(7)(ए) में यह प्रावधान है कि मंत्रिमंडल की कार्रवाई की प्रतिलिपि राज्यपाल को मुख्य सचिव, मुख्यमंत्री की अनुमति से ही भेजता है। इन कानूनी मामलों में भी मुख्यमंत्री यह तो जानते ही थे कि पिछले साढ़े पाँच महीनों में मंत्रिमंडल की केवल एक बैठक हुई है। एम.जी. रामचन्द्रन को अपने कर्त्तव्य की याद दिलाकर खुराना ने ठीक ही किया।[16] राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के खुले संघर्ष को किसी भी रूप में उचित नहीं ठहराया जा सकता है। इससे न केवल राज्य में राजनीतिक-अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न होता है, अपितु प्रशासन-तंत्र पर भी अवांछित प्रभाव पड़ता है।

(5) आन्ध्र-प्रदेश में राज्यपाल डॉ. कुमुद बेन जोशी और तेलगुदेशम सरकार के बीच टकराहट की स्थिति

कभी-कभी राज्यपाल की सक्रिय भूमिका भी विवाद खड़े कर देती है, और राज्य सरकार उसकी भूमिका पर संदेह प्रकट करने लगती है। यदि राज्यपाल और राज्य सरकार में आपस में सामंजस्य की भावना का अभाव हो तो यह स्थिति और भी विकट हो जाती है। आन्ध्र प्रदेश में ऐसा ही हुआ। मुख्यमंत्री श्री एन.टी. रामाराव के नेतृत्ववाली तेलगुदेशम की सरकार ने राज्यपाल की सक्रियता को राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखकर उस पर संदेह प्रकट किया। "आन्ध्र की तेलगुदेशम सरकार को राज्यपाल कुमुद बेन जोशी से तीन मुद्दों पर शिकायत है। सरकार नाराज है कि वे अपनी इच्छानुसार प्रदेश का दौरा करती हैं और लोगों की समस्याएँ सुनती और सुलझाती रहती हैं। इसके अलावा रेडक्रास की अध्यक्षता स्वीकार कर कई तरह के सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से इस संस्था के लिए धन संग्रह का अभियान भी राज्यपाल ने चला रखा है।" मुख्यमंत्री ने इस पर कुछ भी कहने से इन्कार कर बहुत कुछ कह दिया है। मुख्यमंत्री कोष के लिए वैसे भी सरकारी प्रयासों से नियमित धन संग्रह होता है। दो सरकारी अभियानों को समानान्तर रूप से धन

संग्रह का औजार बनाना किसी मुख्यमंत्री को भला कैसे सुहा सकता है? पर आन्ध्र सरकार को सबसे बड़ी शिकायत राज्यपाल द्वारा आन्ध्र प्रदेश मंडल, प्रजा परिषद् और जिला प्रजा परिषद् (संशोधन) बिल पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाने में देर करने पर हुई। राज्यपाल ने यह बिल सिर्फ एक हफ्ता भर ही अपने पास रखा पर तेलगुदेशम पार्टी और सरकार इतना तिलमिला उठी कि भाषा और भावना पर काबू छोड़कर उसने राज्यपाल को 'केन्द्रीय सरकार का दलाल' तक कह डाला। रामाराव सरकार क्रोधातिरेक में अति नाटकीयता का शिकार हो गई लगती है, पर सुश्री जोशी के व्यवहार को भी आदर्श कैसे कहा जा सकता है? राज्यपाल द्वारा रेडक्रास सोसाइटी की अध्यक्षता स्वीकारने को परम्परागत औपचारिकता मान लिया जाए तो भी संस्था को समृद्ध करने के लिए नाइटों, क्रिकेट मैचों और दूसरी तरह के कार्यक्रमों को लेकर राज्यपाल की तल्लीनता और सक्रियता के बारे में क्या कहिएगा? एक राज्यपाल साल भर में अगर बारह सौ सार्वजनिक कार्यक्रमों में जाए तो कांग्रेस द्वारा उसे 'जनता का राज्यपाल' कहे जाने पर जनता द्वारा चुनी हुई सरकार को, खासकर एक पुराने राज्यपाल से चोट खाई सरकार को दाल में काले का शक हो तो क्या अचरज? जनता की समस्याओं के हल के लिए पूरे शासकीय तंत्र की मौजूदगी में राज्यपाल द्वारा स्वतंत्र तरीकों से इस मिशन को हाथ में लेने का मतलब क्या सरकार के प्रति अविश्वास का प्रतीक है।"[17] लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि क्या राज्य सरकार के इस प्रकार के रवैये के बावजूद भी राज्यपाल को इतनी सक्रियता का निर्वाह करना चाहिए था? निश्चित रूप से राज्यपाल की इस भूमिका का गलत अर्थ लगाया जाना स्वाभाविक ही है। अतः राज्यपाल को अपनी कार्य-पद्धति निश्चित करते समय राज्य सरकार के दृष्टिकोण को प्राथमिकता देकर ही कोई कार्य सम्पादित कर के अनुचित विवाद से बचना चाहिए था।

राज्य की तेलगुदेशम की सरकार और राज्यपाल कुमुद बेन जोशी के बीच सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गये। तेलगुदेशम के महामंत्री चन्द्रबाबू नायडू ने तो उनको कांग्रेस (इ) का ऐजेन्ट तक करार दे दिया। लोकायुक्त की नियुक्ति को लेकर राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्ध कटुतापूर्ण बन गये। 14 नवम्बर, 1988 ई. को राज्य के लोकायुक्त श्री राव का कार्यकाल समाप्त हो गया। अब राज्य सरकार को नये लोकायुक्त की नियुक्ति करनी थी। राज्य सरकार ने उच्च न्यायालय से सलाह कर अपनी अनुशंसा के साथ न्यायमूर्ति राजेन्द्रनाथ अग्रवाल का नाम राज्यपाल के पास भेजा। 13 नवम्बर को राज्यपाल को सरकार का पत्र मिला और 14 नवम्बर को सरकार को अपनी अनुशंसा वापस मिली। राज्यपाल ने इस नियुक्ति के बारे में कुछ पूछताछ की। इसके साथ ही राज्यपाल और राज्य सरकार के सम्बन्धों में टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो गई। राज्यपाल सरकार द्वारा चाही गई इस नियुक्ति पर स्वीकृति देने से पूर्व उसकी खिंचाई करने के लिए कृत-संकल्प था। इसका अन्दाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि 11 दिनों में राज्यपाल ने 4 बार इस फाइल को सरकार के पास भेजते हुए स्पष्टीकरण माँगा। सरकार ने राज्यपाल को स्पष्टीकरण भी दिया। इतना ही नहीं राज्य सरकार ने राष्ट्रपति को टेलेक्स भेजते हुए उनसे यह अनुरोध किया कि इस मामले में राज्यपाल से स्पष्टीकरण माँगे।

24 नवम्बर, 1988 को इस प्रकरण में राज्यपाल के विरुद्ध आक्रोश उस समय बहुत अधिक उग्र हो गया जबकि हैदराबाद में सत्तारूढ़ तेलगुदेशम तथा चार गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों ने राज्य की राज्यपाल कुमुद बेन जोशी पर पक्षपातपूर्ण ढंग से कार्य करने और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को आघात पहुँचाने का आरोप लगाया।

लोकायुक्त पद पर न्यायमूर्ति आर.एन. अग्रवाल की नियुक्ति को राज्यपाल द्वारा स्वीकृति देने में विलम्ब से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए मुख्यमंत्री एन.टी. रामाराव द्वारा बैठक बुलाई गई थी। इस बैठक में जनता पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, भारतीय साम्यवादी दल और मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेताओं ने इस बैठक में भाग लिया। बैठक में शामिल नेताओं ने राष्ट्रपति से इस मामले में तुरन्त हस्तक्षेप करने की अपील की।

इन नेताओं ने चेतावनी दी कि अगर राष्ट्रपति मामले में हस्तक्षेप नहीं करते तो वे आन्दोलन छेड़ देंगे। इन विपक्षी दलों ने राष्ट्रपति को तार भेजकर कहा कि उच्चतम न्यायालय के निर्णय के बाद इस मामले को लटकाए रखने का कोई औचित्य नहीं है।

इन नेताओं ने तार में कहा कि इस स्थिति में आपका हस्तक्षेप आवश्यक है, अन्यथा जन-आन्दोलन अपरिहार्य हो जायेगा, और इससे राज्यपाल की बदनामी होगी।

बैठक के बाद संवाददाताओं से बातचीत करते हुए इन नेताओं ने राज्यपाल सुश्री कुमुद बेन जोशी पर आरोप लगाया कि वे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर रही हैं, जो लोकतंत्र के संचालन के उपयुक्त नहीं है। उन्होंने राज्यपाल के इस कृत्य को अवैध तथा अलोकतांत्रिक करार दिया।

इन नेताओं के मत में सुश्री जोशी द्वारा इस नियुक्ति को लटकाए रखने के पीछे स्पष्ट तौर पर कोई मकसद है। उन्होंने कहा कि राज्यपाल के इस आचरण से सरकारिया आयोग की रिपोर्ट की इस सिफारिश को बल मिला है कि गैर कांग्रेसी शासित राज्यों में सक्रिय कांग्रेस-जन भेजना उचित नहीं है।

इस संवाददाता सम्मेलन में उपस्थित नेता थे — सर्वश्री बाबुल रेड्डी (जनता पार्टी), सत्यनारायण (भारतीय साम्यवादी दल), एम. वैंकया नायडू (भारतीय जनता पार्टी), एन. ओंकार (मार्क्सवादी साम्यवादी दल) तथा एन. चन्द्राबाबू नायडू (तेलगुदेशम)।[18]

मुख्यमंत्री एन.टी. रामाराव ने राष्ट्रपति से शिकायत की कि राज्यपाल कुमुद बेन जोशी उन्हें राजनीतिक दृष्टि से परेशान करने के लिए संकट खड़ा करने पर तुली हुई हैं। उन्होंने राज्यपाल पर राज्य सरकार के कामकाज में बाधा उत्पन्न करने का आरोप लगाया। 23 नवम्बर को राष्ट्रपति को भेजे गये दूसरे संदेश में मुख्यमंत्री ने आरोप लगाया कि राज्यपाल कुमुद बेन जोशी सरकार के कामकाज में रोड़ा अटका रही हैं, इससे लोकतांत्रिक मर्यादाएँ भंग हो रही हैं। श्री रामाराव ने राष्ट्रपति से कहा कि वह व्यर्थ ही इस परेशानी को चुप कर के सह रहे थे और इस मामले को उन्होंने राष्ट्रपति तक इसलिए पहुँचाया, क्योंकि इसके सिवाय कोई और चारा नहीं था।[19] राज्यपाल सुश्री कुमुद बेन जोशी के

लिए यही वांछनीय था कि वह इस प्रकरण को विवाद का विषय नहीं बनने देतीं और इस नियुक्ति पर राज्य सरकार की इच्छानुसार ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर देतीं। राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच यह संघर्ष अविराम रूप से तीन वर्ष तक चलता रहा। नवम्बर, 1989 में रामाराव सरकार के पतन के साथ ही यह संघर्ष समाप्त हो गया। डॉ. चेन्ना रेड्डी के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) और राज्यपाल सुश्री कुमुद बेन जोशी के बीच मधुर सम्बन्ध रहे।

(6) बिहार में गोविन्दनारायण सिंह और मुख्यमंत्री भागवत झा आजाद के बीच उठा-पटक

सामान्यतः राज्यपाल और गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों के बीच ही संघर्ष और तनाव की स्थिति रही है, लेकिन बिहार के मामले में दूसरी स्थिति देखने को मिली।[20] बिहार में राज्यपाल गोविन्दनारायण सिंह और मुख्यमंत्री भागवत झा के बीच मधुर सम्बन्ध नहीं रहे। अनेक मामलों – गंगा का मोटर लाँच, राज्य के विश्वविद्यालयों में कुलपतियों की नियुक्ति, राज्यपाल का यात्राधिकार और विधानसभा के स्टॉफ के चयन के सम्बन्ध में राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्ध कटु बन गये। मुख्यमंत्री भागवत झा आजाद राज्यपाल की हस्तक्षेपवादी मनोवृत्ति को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। केन्द्रीय सरकार ने मुख्यमंत्री का ही पक्ष लिया। परिणामस्वरूप राज्यपाल ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के आपसी सम्बन्धों में निरन्तर ह्रास होता गया, और अनावश्यक विवाद उपस्थित हुए।

संदर्भ

1. दिनमान, नई दिल्ली, जुलाई 1-7, 1984, पृष्ठ 22
2. तत्रैव, पृष्ठ 23
3. तत्रैव, पृष्ठ 22
4. अग्रवाल, आर.सी.; भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन : आधुनिक भारत का संविधान (एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1985) पृष्ठ 178
5. दिनमान, नई दिल्ली, जुलाई 1-7, 1984, पृष्ठ 23
6. तत्रैव।
7. सेठी, लोकपाल; राज्यपाल और मुख्यमंत्री का झगड़ा, दिनमान, नई दिल्ली, अगस्त 28 - सितम्बर 3, 983, पृष्ठ 18-19
8. दिनमान, नई दिल्ली, जून 6-12, 1984, पृष्ठ 30
9. नवभारत टाइम्स, जयपुर, फरवरी 3, 1989, पृष्ठ 1
10. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, फरवरी 6, 1989, पृष्ठ 6
11. तत्रैव, मार्च 17, 1989, पृष्ठ 1
12. तत्रैव, जनवरी 18, 1990, पृष्ठ 1

13. एन. रंगा राव; टेस्टिंग टाइम फॉर गवर्नर्स: हिन्दुस्तान टाइम्स, फरवरी 5, 1985, पृष्ठ 9
14. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, अक्टूबर 23, 1985, पृष्ठ 7
15. नूरानी, ए.जी.; मुख्यमंत्री, राज्यपाल और राष्ट्रपति, राजस्थान पत्रिका, जयपुर, अगस्त 12, 1986, पृष्ठ 4
16. तत्रैव ।
17. एक राज्यपाल की सक्रियता, नवभारत टाइम्स, जयपुर, फरवरी 4, 1987, पृष्ठ 4
18. नवभारत टाइम्स, जयपुर, नवम्बर 25, 1988, पृष्ठ 1
19. तत्रैव ।
20. हस्तेक्षपवादी राज्यपाल, नवभारत टाइम्स, जयपुर, जनवरी 11, 1989, पृष्ठ 4

अध्याय -17

चर्चित प्रसंग

स्वतंत्रता के बाद राज्यपाल संस्था के बारे में विवाद उठते रहे हैं। लेकिन सन् 1967 के बाद तो उनकी शक्तियों और भूमिका को लेकर ही व्यापक विवाद उत्पन्न नहीं हुए, अपितु राज्यपालों की कार्य-शैली ने उन्हें और भी अधिक विवादास्पद बना दिया। इन प्रसंगों पर राजनीतिक दलों, संविधान-विशेषज्ञों, और भारतीय राजनीति के समीक्षकों द्वारा भी टीका-टिप्पणी की गई। इनमें से निम्नलिखित प्रसंग महत्त्वपूर्ण थे—

(1) कार्यकारी राज्यपाल की व्यवस्था

पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा के राज्यपालों के सम्बन्ध में ऐसा ही प्रश्न उपस्थित हुआ। पश्चिमी बंगाल में श्री एस.एस. धवन के स्थान पर श्री डियास ने, और उड़ीसा में श्री अंसारी के स्थान पर जोगिन्दरसिंह ने कार्यकारी राज्यपाल की हैसियत से कार्य किया। कार्यकारी राज्यपाल की व्यवस्था का अभिप्राय संविधान के अनुच्छेद-160 में निहित आशय को आधार मानकर अप्रत्यक्ष रूप से लगाया जाता है। भारतीय संविधान में न तो इस प्रकार का कोई उल्लेख ही किया गया है, और न ही इस तरह की कोई व्यवस्था ही संभव है, यह व्यवस्था उसी स्थिति में हो सकती है, जबकि किसी राज्यपाल की अपनी कार्यावस्था में ही मृत्यु हो जाए। उस समय तत्काल नये राज्यपाल को शपथ दिलानी पड़ती है, जिससे कि अनुच्छेद-153 और 154 में निहित औपचारिकताओं को पूरा किया जा सके। परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या संविधान के अनुच्छेद-160 की भावना का इस प्रकार से अर्थ लगाना उचित है कि राज्यपाल अवकाश पर जाये, और उनके स्थान पर "कार्यकारी राज्यपाल" की व्यवस्था की जाये। संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि राज्यपाल अवकाश में भी हों, और उन्हें पूरा वेतन भी प्राप्त हो। इस प्रकार से जब राज्यपाल जीवित हो, परन्तु अगर वह राज्य से बाहर गया हो, या अक्षम हो तो कार्यकारी राज्यपाल की नियुक्ति नहीं की जा सकती है। विपक्षी दलों का आरोप था कि केन्द्र ने राजनीति से अनुप्रेरित होकर ही दोनों राज्यों में यह व्यवस्था की है।

(2) राज्यपालों के विवादास्पद वक्तव्य

संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल को अनेक सीमाओं में रहकर कार्य करना पड़ता है, और उन्हें अपने भाषण और अभिव्यक्ति के अधिकार पर भी अंकुश लगाना पड़ता है। उनके वक्तव्यों का सीधा अर्थ यही लगाया जाता है कि वे अपनी मंत्रिपरिषद् की नीतियों को उजागर कर रहे हैं; अतः राज्यपालों को ऐसे मामलों में मंत्रिपरिषद् की अनुमति के बिना ही कोई नीति-सम्बन्धी वक्तव्य जारी करने का अधिकार है अथवा नहीं, यह एक मूल सांविधानिक प्रश्न है। इसके साथ ही एक खतरा यह भी जुड़ा हुआ है कि क्या राज्यपाल को ऐसे मामलों में उलझना चाहिए, जिस पर राजनीतिक दलों, मंत्रिपरिषद् और केन्द्रीय सरकार की अलग-अलग राय हो? इसके अलावा यह प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि अगर कहीं राज्य-मंत्रिपरिषद् ने उनके वक्तव्यों का खंडन कर दिया, या उनकी आलोचना कर दी तो इसके क्या परिणाम निकलेंगे। कतिपय राज्यपालों के विवादास्पद वक्तव्य आलोचना के विषय बने।

कर्नाटक (मैसूर) के तत्कालीन राज्यपाल श्री धर्मवीर ने सार्वजनिक रूप से केन्द्र के प्रति यह कह कर अपना विक्षोभ प्रकट किया कि उसने अपने वचन का पालन नहीं कर के मैसूर (कर्नाटक) को दी जाने वाली 105 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता देने से इन्कार कर दिया है। इस पर राज्यपाल ने केन्द्र को ओवर ड्राफ्ट की अदायगी चुकाने से इन्कार करने की भी धमकी दी।[1] राज्यपाल ने ऐसा वक्तव्य देकर अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण ही किया। राष्ट्रपति-शासन के समय राज्यपाल को ऐसा वक्तव्य देने का कोई अधिकार नहीं था। उस समय वे राज्य में राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य कर रहे थे। बाद में श्री धर्मवीर को नई दिल्ली बुलाया गया, जहाँ उन्होंने अपने वक्तव्य के लिए राष्ट्रपति से माफी माँगी।

उड़ीसा में तो राज्यपाल और मुख्यमंत्री ने एक सार्वजनिक समारोह के दौरान एकदूसरे की बात का ही प्रतिवाद किया। राज्यपाल श्री जोगिन्दरसिंह का मत था कि भूमि-कर का पुनर्मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए तो दूसरी तरफ मुख्यमंत्री श्री विश्वनाथदास ने इसका प्रतिवाद किया। इस प्रकार से यहाँ नीति-सम्बन्धी प्रश्न पर राज्यपाल और मुख्यमंत्री दोनों के ही विरोधी स्वर थे। राज्यपाल द्वारा अपनी सरकार की नीति के विरोध में वक्तव्य देने को 'न्यायोचित' नहीं माना जा सकता है। ऐसा करके उन्होंने अपने आपको दलगत-राजनीति में धकेल दिया। राज्य में विपक्षी दल के रूप में कांग्रेस भी सरकार की इसी नीति का विरोध कर रही थी। राज्यपाल के इस वक्तव्य ने उन्हें विपक्ष का पक्षधर बना दिया।

(2) कटौती-प्रस्ताव पर सरकार की पराजय के बाद राज्यपाल की भूमिका

30 मार्च, 1981 ई. को असम राज्य-विधानसभा में कटौती-प्रस्ताव पर श्रीमती अनवरा तैमूर के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) की सरकार पराजित हो गई। संसदीय परम्पराओं के अनुसार कटौती-प्रस्ताव पर किसी सरकार की पराजय के बाद मुख्यमंत्री को अपने पद

से त्यागपत्र दे देना चाहिए था। लेकिन यहाँ ऐसा नहीं हुआ। इसके बाद राज्यपाल से यह अपेक्षा थी कि वे तैमूर-मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने का निर्णय लेते। लेकिन इस मामले में राज्यपाल की भूमिका अजीबोगरीब ही रही। राज्यपाल ने ऐसा करने के स्थान पर विधानसभा के अधिवेशन को स्थगित करके, एक अध्यादेश जारी करके समेकित-कोष से कटौती-प्रस्ताव पर पराजित सरकार को चार महीनों के लिए रकम निकालने हेतु सक्षम बनाया। विपक्षी दलों ने राज्यपाल के निर्णय की कड़ी आलोचना करते हुए कहा कि उन्होंने अपने पद की मर्यादा के विरुद्ध एक राज्यपाल के स्थान पर केन्द्रीय सरकार के अभिकर्त्ता की तरह कार्य किया है। राज्यपाल का यह दायित्व था कि वह पराजित सरकार को बर्खास्त करके विपक्ष के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करते। अगर ऐसा संभव नहीं था तो उनके पास राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का विकल्प भी बचा हुआ था। लेकिन उनके द्वारा एक अल्पमतीय सरकार को बचाने का कोई अर्थ नहीं था। जनता पार्टी के नेता समरेन्दु कुन्डू के अनुसार राज्यपाल द्वारा विनियोग अध्यादेश, 1981 का जारी किया जाना ही गैर-कानूनी था। यह अध्यादेश विधानसभा में कटौती-प्रस्ताव पर सरकार के पराजित हो जाने के बाद जारी किया गया। कटौती-प्रस्ताव को अविश्वास-प्रस्ताव के रूप में ही माना जाता है।

लोकसभा में विपक्षी दलों द्वारा असम की घटना पर रखे गये स्थगन-प्रस्ताव पर बोलते हुए लोकदल के नेता जार्ज फर्नांडीज का कहना था कि निश्चित रूप से असम सरकार शासन करने का नैतिक अधिकार खो चुकी थी। घटनाओं के तारतम्य के सन्दर्भ में श्री फर्नांडीज ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद-204, 205 और 206 का भी उल्लंघन हुआ है। अनुच्छेद-213 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करना संविधान पर आक्रमण है। अनुच्छेद-176 के अन्तर्गत सदन में राज्यपाल के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पारित किया जाना चाहिए था। ऐसा किए बिना ही विधानसभा स्थगित कर दी गई। जनता पार्टी के नेता प्रो. मधु दण्डवते का यह तर्क था कि समेकित कोष से रुपया निकालने के लिए विनियोग-विधेयक और वित्त-विधेयक का राज्य-विधानसभा द्वारा पारित किया जाना आवश्यक था। विधानसभा का अधिवेशन स्थगित करने और अध्यादेश द्वारा राज्य सरकार को वित्तीय अधिकार देते हुए अनुच्छेद-213 की गलत व्याख्या की गयी। भारत में ऐसा कहीं नहीं हुआ।[2] लेकिन कांग्रेस (इ) के केन्द्रीय नेताओं और दल के प्रादेशिक नेताओं ने इसे किसी भी तरह से संवैधानिक-संकट मानने से इन्कार कर दिया। स्थगन-प्रस्ताव पर हुई बहस का जवाब देते हुए तत्कालीन विधि मंत्री श्री पी. शिवशंकर का कहना था कि विधानसभा स्थगित हो जाने के बाद सरकार अनुच्छेद-213 का सहारा ले सकती है। अनुच्छेद-213 के अधिकारों का उपयोग कानूनी ढंग से उचित तरीके से किया गया है। सन् 1950 ई. में ऐसा ही एक आदेश जारी करने के उद्देश्य से मद्रास विधानसभा स्थगित की गई थी।[3] राज्यपाल की कार्यवाही को किसी के द्वारा कितना ही उचित क्यों न ठहराया जाये, लेकिन उनके कदम ने राज्य में अल्पमतीय सरकार को जिस तरह से 'जीवनदान' दिया, उसे किसी भी रूप में मान्य नहीं ठहराया जा सकता है।

(3) राज्यपालों का कांग्रेस शताब्दी समारोह में भाग लेना

दिसम्बर, 1985 ई. में सम्पन्न हुए कांग्रेस शताब्दी समारोह में आठ राज्यपालों— उड़ीसा के बी.एन. पांडे, असम के भीष्मनारायणसिंह, उत्तर-प्रदेश के मोहम्मद उस्मान आरिफ खां, आन्ध्र-प्रदेश की कुमुद बेन जोशी, महाराष्ट्र के कोना प्रभाकर राव, राजस्थान के बसन्त दादा पाटिल, पंजाब के शंकरदयाल शर्मा, और पश्चिमी बंगाल के उमाशंकर दीक्षित के भाग लेने के कारण विवाद छिड़ गया। 2 जनवरी, 1986 ई. को लोकदल के उपाध्यक्ष श्री हेमवतीनन्दन बहुगुणा ने पत्रकारों से कहा कि इन राज्यपालों ने पार्टी समारोह में शरीक होकर बड़ी संवैधानिक गलती की है। उन्होंने बताया कि लोकदल के पदाधिकारियों की बैठक में सर्वसम्मति से यह फैसला किया गया कि इन राज्यपालों के खिलाफ राष्ट्रपति से कड़ी कार्यवाही करने की माँग की जाए।[4] विपक्षी दलों ने भी राज्यपालों के विरुद्ध इसी तरह की बात दुहरा कर उनके विरुद्ध कार्यवाही करने की माँग की। दूसरी तरफ कांग्रेस (इ) ने राज्यपालों के इस कदम को उचित ठहराया। 5 जनवरी, 1986 ई. को कांग्रेस (इ) के महासचिव श्री जितेन्द्रप्रसाद ने कांग्रेस के शताब्दी समारोह में राज्यपालों के शामिल होने को उचित ठहराते हुए कहा कि यह समारोह उन स्वतंत्रता सेनानियों की याद में था, जिन्होंने अपने देश की आजादी के लिए कुर्बानी दी थी। इन राज्यपालों में से अनेक स्वयं स्वतंत्रता सेनानी रहे हैं, या उस आन्दोलन से सीधे जुड़े रहे हैं। इसलिए अपने साथियों को श्रद्धांजलि देने के लिए कांग्रेस के शताब्दी समारोह में उनका शामिल हो जाना कुछ भी अनुचित नहीं है। उन्होंने कहा कि कुछ राजनीतिक नेताओं द्वारा ऐसे समारोह पर टीका-टिप्पणी करना उन स्वतंत्रता सेनानियों का अपमान करना है, जिनके कारण देश को आजादी मिल सकी।[5] कांग्रेस (इ) के एक अन्य महासचिव श्री ए.के. एंटोनी ने भी राज्यपालों के समारोह में भाग लेने का समर्थन करते हुए कहा कि इसमें कोई गलत या संवैधानिक दृष्टि से अनौचित्यपूर्ण कार्य नहीं हुआ है। लोकदल के नेता एच.एन. बहुगुणा की आलोचना के उत्तर में उन्होंने कहा कि किसी भी राज्यपाल ने अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में भाग नहीं लिया था। वे तो वहाँ यात्रियों और पर्यवेक्षकों के रूप में आये थे। श्री एंटोनी ने कहा कि उनके दल ने इस ऐतिहासिक अवसर पर उन सभी व्यक्तियों को आमंत्रित किया था, जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग लिया।[6] निस्संदेह ये सभी राज्यपाल किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े हुए थे। लेकिन इस सम्बन्ध में यहाँ यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या राज्यपालों ने किसी भी स्तर पर शताब्दी समारोह में अपने शामिल होने के औचित्य-अनौचित्य पर कोई विचार किया? दूसरे, क्या राज्यपालों ने इस समारोह में भाग लेने के लिए राष्ट्रपति से औपचारिक अनुमति ली थी? तृतीय, क्या राज्यपालों ने अपना प्रदेश छोड़ते हुए भी राष्ट्रपति से अनुमति ली थी, क्योंकि ऐसा करना उनके लिए संवैधानिक आवश्यकता है? "लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। ऐसा लगता है कि राज्यपालों ने इस समारोह में जाने के लिए राष्ट्रपति से औपचारिक अनुमति लेने की जरूरत भी नहीं समझी, जबकि संविधान उन्हें अपना प्रदेश छोड़कर बाहर जाते समय राष्ट्रपति से पूछने का निर्देश देता है। इसलिए राज्यपालों का यह आचरण सिर्फ

लोकतांत्रिक मर्यादाओं का ही मामला नहीं है, उनके संवैधानिक आचरण का मामला भी है।"[7] निश्चित रूप से, अगर राज्यपाल राष्ट्रपति से पूर्वानुमति लेकर समारोह में शामिल होवे तो इतना विवाद ही खड़ा नहीं होता।

(4) राज्यपाल की विश्वविद्यालय सीनेट द्वारा आलोचना

राज्यपाल को विश्वविद्यालय का कुलाधिपति माना जाता है। अतः किसी विश्वविद्यालय की सीनेट द्वारा राज्यपाल की निन्दा करना असामान्य ही माना जाता है। लेकिन महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री कोना प्रभाकर राव को बम्बई विश्वविद्यालय की सीनेट की निन्दा का शिकार बनना पड़ा। "बम्बई विश्वविद्यालय के 129 वर्ष के इतिहास में ऐसी तूफानी बैठक सीनेट की कभी नहीं हुई होगी, जैसी कि पिछले सप्ताह हुई। इस बैठक में सीनेट के सदस्यों ने न सिर्फ कुलाधिपति कोना प्रभाकर राव की खुलकर निन्दा की, बल्कि इन्हें पद से हट जाने का परामर्श भी दिया। एम.डी. परीक्षा के प्राप्तांक घोटाला कांड में राजनीतिक दखल, विश्वविद्यालय प्रशासन की स्वायत्तता पर प्रहार और कुलाधिपति के अनुचित व्यवहार के प्रति घोर चिन्ता व्यक्त की गई, जिसके कारण विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. गोरे को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। यह पहला अवसर है जब सीनेट के सदस्यों ने बम्बई विश्वविद्यालय के बजट सत्र के 13 घंटे एम.डी. परीक्षा प्राप्तांक घोटाले की बहस में बिताए और ताबड़तोड़ कुछ ही समय में 1986-87 के लिए विश्वविद्यालय के 178.9 लाख रुपये के घाटे के बजट पर स्वीकृति की मोहर लगाई।"[8] इसके पूर्व पुणे विश्वविद्यालय में पेश हुए प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से कहा गया था कि राज्यपाल राव ने अपने प्रभाव से अपने नाती का प्रवेश नासिक स्थित कालेज में "बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन" में करवाया था। कहा गया है कि राज्यपाल का नाती एम.बी.ए. की मौखिक परीक्षा में फेल हो गया था, इसलिए इसकी भर्ती पूना की सिवियांसिहा इंस्टीट्यूट में नहीं हुई थी।[9] राज्यपाल की इस तरह की आलोचना इस प्रश्न को जन्म देती है कि क्या कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल की स्वतः नियुक्ति की परम्परा पर पुनर्विचार नहीं किया जाना चाहिए? क्या राजनीति के क्षेत्र से आया हुआ व्यक्ति कुलाधिपति की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है? क्या यह उचित नहीं होगा की राज्यपालों को कुलाधिपतियों की भूमिका से पूरी तरह से मुक्त कर के इस पद पर शिक्षाविदों की नियुक्ति की जाये। बाद में श्री राव ने राज्य के राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर श्री शंकरदयाल शर्मा को महाराष्ट्र का राज्यपाल नियुक्त किया गया।

(5) एक राज्यपाल की राजनीतिक भूमिका

समय-समय पर राजस्थान के राज्यपाल स्व. श्री बसन्तराव पाटिल की भूमिका को लेकर भी काफी चर्चाएँ हुई हैं। महाराष्ट्र में श्री शिवाजीराव निलेगंकर के मुख्यमंत्री-पद से त्यागपत्र देने के बाद उसके उत्तराधिकारी के चयन और महाराष्ट्र के वर्तमान मुख्यमंत्री श्री शंकरराव चव्हाण को हटाने के सम्बन्ध में उनकी भूमिका को लेकर भी व्यापक चर्चा होती रही है। विपक्षी दलों ने उनके आचरण पर गहरी आपत्ति की है। 15 मार्च, 1986 ई. को राजस्थान के राज्यपाल श्री बसन्तराव पाटिल ने जयपुर में कहा कि उन्होंने महाराष्ट्र

में नये मुख्यमंत्री के चुनाव और राजनीतिक घटनाचक्र के सम्बन्ध में कुछ भी असाधारण (Extra-ordinary) नहीं किया। हिन्दुस्तान टाइम्स के संवाददाता से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि उनकी नवीनतम दिल्ली-यात्रा (संयोग से इन्हीं दिनों महाराष्ट्र में राजनैतिक घटनाचक्र घटित हुआ था) में वे प्रधानमंत्री से नहीं मिले। इसके विपरीत कुछ 'दूसरे' लोग उनसे मिले और उन्होंने श्री एस.बी. चव्हाण के मुख्यमंत्री के चयन के रूप में उनकी राय पूछी तो उन्होंने अनुकूल राय देते हुए कहा कि श्री चव्हाण स्थिर सरकार प्रदान करने में सक्षम होंगे। यह पूछे जाने पर कि विपक्ष ने राज्य-विधानसभा में उन पर अनेक आरोपों की झड़ी लगाई है, श्री पाटिल ने कहा कि उसने (विपक्ष) यह मुद्दा किसी अन्य वजह से नहीं, अपितु लोकतंत्र में अपनी भूमिका की वजह से उठाया है, और कोई भी उनके इस अधिकार को नियंत्रित नहीं कर सकता है कि वे क्या सोचते हैं। उन्होंने कुछ भी गलत नहीं किया है, और अनेक अवसरों पर स्वेच्छा से अपनी भूमिका को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा कि इस विवाद को खड़ा करने के लिए भारतीय जनता पार्टी उत्तरदायी है। समाचार-पत्रों के माध्यम से उन्हें इस बात की जानकारी प्राप्त हुई है कि इस सम्बन्ध में भाजपा अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवानी के नेतृत्व में दल का एक शिष्टमण्डल राष्ट्रपति से मिला। उन्होंने कहा कि अनेक वर्षों से सक्रिय राजनीति में रहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे अब भी उसी ढँग की राजनीति में सक्रिय हैं। उन्होंने कहा कि उनके द्वारा अपने मूल प्रदेश के बारे में जानकारी रखना या प्राप्त करने का तात्पर्य राजनीति करना (Politics) नहीं है। इस पर टिप्पणी करने पर पूछे जाने पर कि विपक्ष का यह आरोप है कि चार दिन के दिल्ली प्रवास में वे महाराष्ट्र के राजनीतिज्ञों से मिलकर मंत्रिमंडल-निर्माण-प्रक्रिया में लिप्त रहे? उन्होंने कहा कि "क्या मैं जनता को मिलने से रोक सकता हूँ। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं लिया जाना चाहिए कि मैं असाधारण रूप से महाराष्ट्र की राजनीति में रुचि रखता हूँ। जो व्यक्ति मेरे में विश्वास रखते हैं, वे टेलीफोन और अन्य सूचनाओं से मुझसे संपर्क रखते हैं और सलाह प्राप्त करते हैं। इसे किसी भी तरह से "हस्तक्षेप" नहीं कहा जा सकता है।" बम्बई में कांग्रेस शताब्दी समारोह के अधिवेशन में भाग लेने के बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि उन्होंने इसमें इसलिए भाग लिया, क्योंकि वे अनेक दशकों से इस दल से जुड़े रहे हैं। लेकिन उनका प्रतिनिधित्व एक पर्यवेक्षक (Observer) के रूप में ही था। उन्होंने किसी भी सार्वजनिक सभा, दलीय सभा, तथा संगठनात्मक सभा में भाग नहीं लिया।[10]

15 मार्च, 1986 ई. को राजस्थान विधानसभा में विपक्ष ने राज्यपाल पर संवैधानिक-औचित्यता (Constitutional Propriety), अनैतिक-आचरण (Unethical Conduct)करने और राजस्थान की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाने जैसे अनेक आरोप लगाये। 90 मिनट तक राज्य-विधानसभा में इस बात पर चर्चा होती रही कि क्या वह राज्य के अध्यक्ष के, उसके व्यक्तिगत-आचरण पर वाद-विवाद कर सकती है? वाद-विवाद के समापन पर विधानसभाध्यक्ष श्री गिरिराज प्रसाद तिवाड़ी ने यह व्यवस्था दी कि विधानसभा के नियम संख्या 295 के अन्तर्गत लाये गये स्थगन-प्रस्ताव के माध्यम से राज्यपाल के राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में या उसकी व्यक्तिगत हैसियत से किये गये आचरण पर चर्चा की अनुमति नहीं दी जा सकती है। जैसाकि संविधान में स्पष्ट है कि राज्यपाल

और विधानसभाध्यक्ष जैसे प्रतिष्ठित लोगों के लिए अलग से प्रस्ताव लाना पड़ता है, अध्यक्ष ने राज्यपाल के आचरण पर चर्चा करने से इन्कार करते हुए यह व्यवस्था दी कि संसद या किसी विधानसभा ने इस प्रकार की चर्चा करने की अनुमति नहीं दी है। अध्यक्ष ने इस सम्बन्ध में जनता पार्टी के श्री मानकचंद सुराना द्वारा उठाये गये व्यवस्था सम्बन्धी प्रस्ताव को निरस्त करते हुए, कांग्रेस (इ) के सचेतक श्री बुलाकीदास कल्ला द्वारा लगातार किये गये इस अनुरोध को भी ठुकरा दिया कि इस चर्चा को सदन की कार्यवाही से ही हटा दिया जाये। विधिमंत्री श्री हीरालाल देवपुरा ने इस व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहा कि अभिसमय (Conventions), नियम (Rules), संविधान (Constitution), राज्य के प्रधान (Head of the State), और विधायक (Legislator) के बारे में परिचर्चा करने की अनुमति नहीं देते हैं। लेकिन श्री भैंरोसिंह शेखावत सहित, विपक्षी सदस्यों का तर्क था कि महाराष्ट्र की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेकर राज्यपाल ने इस पद और राजस्थान की गरिमा को कम करने के साथ-साथ अनैतिक (Unethical) आचरण भी किया है। उनका कहना था कि श्री पाटिल ने अपनी संविधानोतिरिक्त (Extra-Constitutional) गतिविधियों से संविधान में निहित अपनी भूमिका से बाहर जाकर कार्य किया है, और इस तरह से उन्होंने राजस्थान राज्य की सेवा करने की अपनी शपथ का हनन (Violation) किया है। श्री मानिकचंद सुराना का कहना था कि राज्यपाल को केरल के राज्यपाल श्री ए.पी. जैन का अनुसरण करना चाहिए, जिन्होंने 1969 ई. में कांग्रेस विभाजन के समय श्रीमती गाँधी का समर्थन करने के लिए अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था।[11] निस्संदेह राज्यपाल के सार्वजनिक वक्तव्यों और समाचार-पत्रों में दिये गये 'साक्षात्कारों' ने एक व्यापक बहस को जन्म दिया। महाराष्ट्र में नेतृत्व परिवर्तन के सन्दर्भ में राज्यपाल की भूमिका भी एक बार पुनः चर्चा का विषय बनी। मुख्यमंत्री श्री एस.बी. चव्हाण के विरुद्ध कांग्रेस के असंतुष्टों को बल देने में श्री पाटिल की भूमिका के बारे में अनेक टीका-टिप्पणयाँ की गईं। "राज्यपाल होते हुए भी दादा यहाँ राजभवन से (जयपुर से) महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री चव्हाण के लिए सरदर्दी पैदा कर रहे हैं। वे जब भी महाराष्ट्र जाते हैं, सारी राजनीतिक गतिविधियाँ उन तक ही केन्द्रित हो जाती हैं। आलाकमान ने यही सोचकर इन्हें राजस्थान का राज्यपाल बनाया ताकि वे महाराष्ट्र के अन्दरूनी मामलों में दखल देना बंद कर दें, लेकिन आलाकमान उन्हें ऐसा करने से नहीं रोक पाया।"[12] राज्यपाल ने महाराष्ट्र की राजनीति से अपने जुड़े रहने की बात को स्वीकार करते हुए कहा कि "उन्होंने कांग्रेस हाईकमान से महाराष्ट्र का मुख्यमंत्री बदलने की सिफारिश की है।"[13] . . . पिछले दिनों शालिनी ताई पाटिल ने श्री पाटिल पर आरोप लगाया कि वे राज्यपाल जैसे गरिमा वाले पद पर रहते हुए महाराष्ट्र की राजनीति में 'दखलंदाजी' कर रहे हैं। अतः उन्हें राज्यपाल-पद से हटा देना चाहिए।[14] इस तरह से राज्यपाल के रूप में श्री पाटिल की भूमिका काफी विवादास्पद बनकर अनेक बार सुर्खियों में आई।

(6) अध्यादेश-राज और बिहार के राज्यपालों की भूमिका

भारतीय संविधान में अत्यावश्यक परिस्थितियों में राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है। वह छह महीने तक ही लागू रहता है। "लेकिन बिहार में मुख्यमंत्री और राज्यपाल एक ही अध्यादेश को बीस या तीस या चालीस बार लागू करके

उसे छह साल, आठ साल, यहाँ तक कि बारह और चौदह साल तक चलाते रहे। जब विधानसभा का अधिवेशन होता तो उसमें वे इन अमर अध्यादेशों को पेश ही नहीं करते। लेकिन जैसे ही सत्रावसान होता, वे पुराने अध्यादेश को फाइल से निकालकर जनता पर थोप देते। गन्ने की खरीदी के बारे में जो अध्यादेश 1968 में पहली बार लागू हुआ था, उसे 39 बार दुहराया गया और आखिरी बार वह 1981 में लागू हुआ। पंचायत राज, हिन्दू धार्मिक ट्रस्ट और खादी ग्रामोद्योग के सिलसिले में अध्यादेश 1970 में लागू किए गये थे, वे भी 1981 तक चलते रहे। **उन्होंने इसे 37 बार दोहराया।**"[15] यह स्थिति निश्चय ही सोचनीय थी। राज्यपालों को अध्यादेश जारी करने का अधिकार अवश्य है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस अधिकार का इस तरह से प्रयोग किया जाये। बिहार की इस स्थिति का मूल्यांकन करके पुणे के "गोखले राजनीतिक और आर्थिक संस्थान" के अर्थशास्त्री डॉ. दीवानचन्द बधवा ने जनवरी, 1984 ई. में सर्वोच्च न्यायालय में एक रिट याचिका दायर की। तीन साल अदालत में गुजर गये, और यशवन्त चन्द्रचूड़ और पी.एन. भगवती के कार्यकाल समाप्त हो गए, लेकिन बिहार को सुध नहीं आई। अंततः मुख्य न्यायाधीश भगवती ने अपने कार्यकाल के अंतिम दिन हड़बड़ में अन्य जजों के साथ इस मामले में फैसला सुनाया और घोषित किया कि बिहार में सचमुच संविधान के साथ धोखा होता आया है।[16] सर्वोच्च न्यायालय की खंडपीठ ने बिहार सरकार को इस बात के लिए लताड़ा है कि वह अध्यादेशों के जरिए राज चलाती है। उसने कई वर्षों से यह परम्परा बना रखी है और कानून बनाने का जो काम विधायिका का है, वह खुद ही अंजाम देने लगी है।[17] · · · सर्वोच्च न्यायालय ने अध्यादेश के जरिए राज चलाने की कड़ी भर्त्सना की है और यह चेतावनी भी दी है कि 'देश में अध्यादेश-राज नहीं होना चाहिए'। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि राज्यपाल की क्या भूमिका होनी चाहिए? राज्यपाल को चाहिए कि वह मुख्यमंत्री को यह सूचित करे कि राज्य-विधानमंडल की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। राज्यपाल को अलोकतांत्रिक प्रक्रिया पर रोक लगानी चाहिए।

(7) राज्यपालों के स्थानान्तरण

सन् 1967 ई. के बाद राज्यपालों के किये गये स्थानान्तरण भी व्यापक विवाद के विषय बने। भारतीय संविधान में राज्यपालों के स्थानान्तरण की व्यवस्था नहीं की गई है, इसके बाद भी उन्हें लोकसेवकों की तरह एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरित किया गया।[18] राज्यपालों के स्थानान्तरण के अनेक उदाहरण सामने आते हैं। श्री शंकर दयाल शर्मा को आन्ध्रप्रदेश से पंजाब, और पंजाब से महाराष्ट्र स्थानान्तरित किया गया। उड़ीसा के राज्यपाल श्री भगवतदयाल शर्मा को मध्यप्रदेश में, और गुजरात के राज्यपाल श्री के.एम. चण्डी को मध्यप्रदेश के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री जी.डी. तपासे का हरियाणा में स्थानान्तरण किया गया। इसके अलावा उड़ीसा के राज्यपाल श्री हरचरणसिंह बरार को हरियाणा, और हरियाणा के राज्यपाल श्री जयसुखलाल हाथी को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त किया गया। दिल्ली के उपराज्यपाल श्री जगमोहन की जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई। हिमाचल-प्रदेश के राज्यपाल

अलीमुद्दीन खां को पंजाब में स्थानान्तरित किया गया। राज्यपालों के इस तरह के व्यापक स्थानान्तरण की पृष्ठभूमि में इस बात का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या यह संविधान की भावना के अनुकूल है? इस पर अपना मत प्रकट करते हुए प्रो. जे.आर. सिवाच ने लिखा है कि "वास्तव में, राज्यपालों का एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरण संविधान के उपबंधों का उल्लंघन है, क्योंकि जब भी राज्यपाल एक राज्य से दूसरे राज्य को स्थानान्तरित किये जाते हैं, वहाँ उन्हें पुनः नई शपथ लेनी पड़ती है, जिसका अर्थ है पुनः पाँच वर्ष की समयावधि, जिसका तात्पर्य यही है कि राज्यपाल अपनी अवशिष्ट अवधि में स्थानान्तरित नहीं किये जा सकते हैं।"[19] निश्चित रूप से बार-बार राज्यपालों के स्थानान्तरणों से न केवल राज्य में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न होता है, अपितु प्रशासन-तंत्र भी बुरी तरह से प्रभावित होता है।

(8) पंजाब में राज्यपालों की बाढ़

सन् 1983 से लेकर 1993 तक अर्थात् एक दशक में राज्य में राज्यपालों की बाढ़-सी आ गई। एक के बाद एक इतनी तेजी से राज्यपाल बदले गए कि लोगों को उनका नाम याद रखना भी कठिन हो गया। इस काल में सर्वश्री डॉ.एम.चेन्ना रेड्डी, अनन्तप्रसाद शर्मा, जयसुखलाल हाथी, अलीमुद्दीन खाँ, बी.डी. पाण्डे, टी.के. सत्तारवाला, शंकरदयाल शर्मा, अर्जुनसिंह, होकिशे सेमा, सिद्धार्थशंकर राय, विमलकुमार मुखर्जी, वीरेन्द्र वर्मा, जनरल ओमप्रकाश मल्होत्रा, और सुरेन्द्रनाथ की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति की गई। दस वर्षों में चौदह राज्यपाल नियुक्त किये गये। स्वतंत्रता के पश्चात् किसी राज्य में इसे असामान्य घटना ही माना जायेगा।

(9) राज्यपाल सक्रिय राजनीति में

राज्यपालों का अपने पद से त्यागपत्र देकर पुनः सक्रिय राजनीति में भाग लेने की बढ़ती मनोवृत्ति भी व्यापक बहस का विषय बनी। इस तरह के अनेक उदाहरण सामने आते हैं। केरल के राज्यपाल श्री अजीतप्रसाद जैन ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देकर सन् 1966 ई. में प्रधानमंत्री-पद के लिए श्री मोरारजी देसाई और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के बीच हुए संघर्ष में श्रीमती गाँधी की तरफ खुलकर भाग लिया। केरल के राज्यपाल-पद पर रहे श्री वी.वी. गिरी भी सक्रिय राजनीति में उतरे, और राष्ट्रपति जैसा सर्वोच्च पद सुशोभित किया। राज्यपाल के पद पर रहे श्री विश्वनाथन उड़ीसा के मुख्यमंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुए। सन् 1977 ई. में हुए आम चुनाव में भाग लेने के लिए राजस्थान के राज्यपाल जोगिन्दरसिंह ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देकर कांग्रेस के प्रत्याशी के रूप में लोकसभा का चुनाव लड़ा, जिसमें उन्हें पराजय का सामना करना पड़ा। सन् 1977 ई. के चुनाव में ही भूतपूर्व राज्यपाल श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने जनता पार्टी और लोकतंत्री कांग्रेस के प्रत्याशियों के पक्ष में सक्रिय रूप से प्रचार किया। केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद तमिलनाडु के राज्यपाल मोहनलाल सुखाड़िया और कर्नाटक के राज्यपाल उमाशंकर दीक्षित ने अपने पदों से त्यागपत्र देकर कांग्रेस दल की सक्रिय राजनीति

में भाग लेना प्रारम्भ किया। श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने 1980 ई. के लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस (इ) के टिकिट पर चुनाव लड़कर विजय प्राप्त की। उत्तरप्रदेश के राज्यपाल डॉ. चेन्ना रेड्डी, सन् 1983 में आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री बने। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल अनन्तप्रसाद शर्मा ने भी राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देकर कांग्रेस (इ) के प्रत्याशी के रूप में राज्यसभा की सदस्यता प्राप्त की। नवम्बर, 1985 ई. में पंजाब के राज्यपाल श्री अर्जुनसिंह ने अपने पद से त्यागपत्र देकर पुनः कांग्रेस (इ) की सक्रिय राजनीति का वरण किया। बाद में वे नई दिल्ली से कांग्रेस (इ) के संसद सदस्य के रूप में निर्वाचित होकर केन्द्रीय मंत्रिमंडल में शामिल हुए। अप्रैल, 1986 ई. में हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल होकिशे सेमा ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। वे नागालैण्ड से कांग्रेस (इ) के सदस्य के रूप में राज्यसभा के लिए निर्वाचित हुए। मध्यप्रदेश के राज्यपाल पंडित भगवतदयाल शर्मा ने भी जून, 1987 ई. के हरियाणा विधानसभा के चुनाव में कांग्रेस (इ) के पक्ष में प्रचार किया।

अगस्त, 1987 में महाराष्ट्र के राज्यपाल डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने उन्हें कांग्रेस (इ) द्वारा उपराष्ट्रपति पद का प्रत्याशी मनोनीत किये जाने के बाद अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। वे उपराष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए।

7 नवम्बर, 1987 को राजस्थान के राज्यपाल बसन्तराव पाटिल ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। राष्ट्रपति को भेजे गये अपने त्यागपत्र में श्री पाटिल ने अनुरोध किया कि उनका त्यागपत्र 13 नवम्बर, 1987 से माना जाए। 9 नवम्बर, 1987 को राष्ट्रपति ने उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् श्री पाटिल अपने देहावसान तक महाराष्ट्र की सक्रिय राजनीति में बने रहे।

सन् 1988 में मिजोरम के राज्यपाल हितेश्वर सैकिया ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र देकर असम से कांग्रेस (इ) के टिकिट पर राज्यसभा के लिए चुनाव लड़ा, जिसमें वे पराजित हुए। सन् 1989 में असम और मेघालय के राज्यपाल भीष्मनारायण सिंह ने सक्रिय राजनीति में भाग लेने के उद्देश्य से ही राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया।

राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद अनेक राज्यों के राज्यपालों ने अपने पदों से त्यागपत्र देकर सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया। 1 फरवरी, 1990 को असम के राज्यपाल हरिदेव जोशी और बिहार के राज्यपाल जगन्नाथ पहाड़िया ने कांग्रेस (इ) प्रत्याशी के रूप में राजस्थान विधानसभा का चुनाव लड़ा, और विजयी रहे। 15 मार्च, 1993 को मणिपुर के राज्यपाल चिन्तामणि पाणिग्रही ने राज्यपाल-पद से त्यागपत्र दे दिया। श्री पाणिग्रही उड़ीसा की राजनीति में सक्रिय हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों के आचरण ने विविध संवैधानिक तथा राजनीतिक प्रश्नों को जन्म देकर इस संस्था को विवादास्पद बनाकर उन्हें आलोचना का पात्र बनाया।

संदर्भ

1. टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, जनवरी 18, 1972
2. दिनमान, नई दिल्ली, अप्रैल 12-18, 1981 (टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन) पृष्ठ 18
3. तत्रैव।
4. जनसत्ता, नई दिल्ली, जनवरी 3, 1986, पृष्ठ 1
5. हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, जनवरी 7, 1986, पृष्ठ 6
6. तत्रैव।
7. जनसत्ता, नई दिल्ली, जनवरी 4, 1986, पृष्ठ 1
8. रूंगटा, उर्मिला; विधानमंडल में परीक्षा कांड और सूखे की गूंज, राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, अप्रैल 2, 1986, पृष्ठ 7
9. तत्रैव।
10. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, मार्च 17, 1986, पृष्ठ 7
11. तत्रैव।
12. झालानी, महेश; दादा दिल्ली में इस बार निर्णायक फैसला करेंगे, नवभारत टाइम्स, जयपुर, जुलाई 11, 1987, पृष्ठ 1
13. नवभारत टाइम्स, जयपुर, जुलाई 17, 1987, पृष्ठ 1
14. तत्रैव।
15. तत्रैव, दिसम्बर 25, 1986, पृष्ठ 4
16. तत्रैव।
17. राजस्थान पत्रिका, उदयपुर, दिसम्बर 26, 1986, पृष्ठ 4
18. सिवाच, जे.आर.; डायनेमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स (स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985) पृष्ठ 124
19. तत्रैव।

अध्याय -18

ज्वलन्त संवैधानिक प्रश्न

राज्यपालों की संवैधानिक, संस्थागत और व्यावहारिक स्थिति के सैद्धान्तिक और प्रक्रियागत विश्लेषण के बाद अनेक ऐसे ज्वलन्त संवैधानिक प्रश्न उजागर होते हैं, जिनकी किसी भी रूप में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इन प्रश्नों का समाधान खोजने पर ही इस संस्था को प्रासंगिक और सार्थक बनाये रखा जा सकता है, क्योंकि इन प्रश्नों के साथ इस पद की गरिमा और उपयोगिता की भावना भी जुड़ी हुई है। ये प्रश्न किसी एक काल अथवा युग के नहीं हैं, अपितु ऐसे बुनियादी प्रश्न हैं, जिन पर अत्यन्त गंभीरता और समीक्षात्मक ढ़ंग से विचार किया जाना अपेक्षित है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका को लेकर व्यापक बहस और चर्चा सभी स्तरों पर हुई है, परन्तु इन बुनियादी प्रश्नों का निर्णायक समाधान खोजना अभी भी शेष है। चतुर्थ आम चुनावों के बाद राज्यपालों का जो भी आचरण रहा, उसने इन प्रश्नों को और भी प्रभावी रूप से मुखरित कर दिया।

(1) संविधान निर्माताओं की कल्पना

सबसे अहम् प्रश्न यह है कि स्वतंत्रता के पश्चात् क्या राज्यपालों की आचरणगत भूमिका से संविधान निर्माताओं की भावनाएँ साकार हुई हैं? संविधान सभा में हुए वाद-विवाद का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने राज्यपालों से देश के संसदीय और संघात्मक प्रजातंत्र को सुदृढ़ करने के लिए बड़ी ही उपयोगी, सार्थक और रचनात्मक भूमिका की अपेक्षा की थी। संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि राज्यपाल राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय अभिकर्त्ता की दोहरी भूमिका में समन्वय स्थापित करके प्रादेशिक और राष्ट्रीय हितों में उचित रूप से समन्वय और सन्तुलन स्थापित करके देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करेंगे? लेकिन राज्यपालों की भूमिका के सम्बन्ध में उठने वाले विवादों से यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो केन्द्र में सत्तारूढ़ होने वाली सरकारों, न राज्य सरकारों और न ही स्वयं राज्यपालों ने अपनी उद्देश्यपरक भूमिकाओं से इस बात का सच्चे अर्थों में परिचय ही दिया कि उनका सर्वोपरि

लक्ष्य दलीय-राजनीति की सीमाओं से ऊपर उठकर संविधान निर्माताओं की वास्तविक भावना को साकार करना है। फलतः राज्यपाल जैसे पद का राजनीतिक हितों की पूर्ति करने में दुरुपयोग किया जाने लगा। केन्द्रीय सरकारों द्वारा राज्यों में मुख्यमंत्रियों को सत्तारूढ़ रखने या उन्हें अपदस्थ करने के लिए इस पद का उपयोग होने लगा। राज्य सरकारों से भी यह अपेक्षा की गई थी कि वे संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपालों की सलाह को बड़ा महत्त्व देकर निर्णय लेंगी, लेकिन राज्य सरकारों द्वारा भी राज्यपालों की सलाह को अस्वीकार कर देना या उसकी उपेक्षा करना एक साधारण-सी बात हो गई। इसके अलावा राज्यपाल भी अपनी भूमिका का प्रभावी ढँग से निरूपण नहीं कर सके। व्यवहार में, उन्होंने राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के स्थान पर केन्द्र के अभिकर्त्ता की भूमिका को वरीयता देने की नियति को स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्यपालों पर केन्द्र की 'कठपुतली' होने का आरोप लगाया गया। राज्यपाल अपनी इस गलत 'छवि' को समाप्त नहीं कर सके। जिन राज्यपालों ने केन्द्रीय सरकार के मनचाहे निर्देशों का पालन करने से इन्कार कर दिया, अथवा उसकी इच्छा के अनुरूप आचरण नहीं किया, उन्हें या तो अपने पद से हटने के लिए विवश किया गया, अथवा उन्हें बर्खास्तगी का शिकार बनना पड़ा। संविधान निर्माताओं ने इस बात की भी अपेक्षा की थी कि इस पद पर ऐसे योग्य, निष्ठावान और चरित्रशील व्यक्तियों की नियुक्ति की जायेगी, जो अपने क्रिया-कलापों से देश के सार्वजनिक जीवन में उच्च मापदण्ड स्थापित करने में सक्षम होंगे? लेकिन विगत वर्षों में (कतिपय अपवादों को छोड़कर), इस पद पर जिस तरह के लोगों की नियुक्ति की गई है, उससे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य ही असफल हो जाता है। यह पद पराजित, तिरस्कृत और सेवा-निवृत्त राजनेताओं के लिए 'उपहार का पद' बन गया है। अतः इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि कब तक इस पद का 'राजनीतिकरण' किया जाकर सार्वजनिक जीवन के सुविख्यात लोगों को इस पद पर नियुक्त किये जाने से वंचित किया जायेगा? दलीय-राजनीति से परे और ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों की नियुक्ति के साथ इस पद की गरिमा और प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है।

स्वतंत्रता से लेकर वर्तमान तक राज्यपालों का जो आचरणगत पक्ष रहा है, उसकी समीक्षा करने से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा समान परिस्थितियों में भी निर्णय लेते समय एकरूपता का परिचय नहीं दिया गया। राज्यपालों की कार्यशैली में निरंकुशता और विरोधाभास की स्थिति परिलक्षित होती है।

(2) नियुक्ति सम्बन्धी मापदण्ड

समय-समय पर राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में जो विवाद उपस्थित हुए, उनमें सबसे मुख्य केन्द्रीय सरकार द्वारा सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह से उनकी नियुक्ति करने से सम्बन्धित था। सामान्यतः केन्द्रीय सरकार ने राज्यों के मुख्यमंत्रियों की सलाह लेकर ही राज्यपालों की नियुक्ति की। लेकिन कतिपय मामलों में केन्द्रीय सरकार ने इसका पालन नहीं करते हुए मुख्यमंत्रियों के विरोध करने के बावजूद भी या मुख्यमंत्रियों को विश्वास में लिये बिना ही राज्यपालों की नियुक्ति कर दी। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय-सरकारों

के प्रवक्ताओं द्वारा यह तर्क दिया गया कि संविधान में मुख्यमंत्रियों की सलाह के आधार पर ही राज्यपालों की नियुक्ति करने का प्रावधान नहीं है। यह केन्द्रीय-सरकार पर ही निर्भर करता है कि वह राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श करे अथवा नहीं करे, उनके परामर्श को स्वीकार करे अथवा नहीं करे। अतः इस बात का निर्धारण करना आवश्यक है कि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय किस रूप में और किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करके उसकी राय को सम्मान दिया जाये।

(3) स्व-विवेकीय शक्तियाँ

संविधान में राज्यपालों को स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। समय-समय पर राज्यपालों ने इन स्व-विवेकीय शक्तियों का खुलकर प्रयोग भी किया है। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या राज्यपालों की ये स्व-विवेकीय शक्तियाँ अपरिमित और असीमित हैं? क्या इन स्व-विवेकीय शक्तियों की आड़ में राष्ट्रपति द्वारा नामजद राज्यपालों को शक्तिसम्पन्न मुख्य कार्यपालिका के प्रधान के रूप में व्यवहार करने की छूट दी जा सकती है? न्यायिक-परिधि से परे इन स्व-विवेकीय शक्तियों के दुरुपयोग को कैसे रोका जा सकता है? क्या राज्यपाल इन स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग लोकप्रिय सरकार के दमन करने के लिए तो नहीं करेगा? क्या केन्द्रीय सरकार द्वारा इन शक्तियों का प्रयोग विपक्षी राज्य सरकारों को अपदस्थ करने के लिए तो नहीं किया जायेगा? ये सभी बड़े गंभीर प्रश्न हैं। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पहलुओं पर भी विचार करना वांछनीय है :

(1) यदि राज्य-विधानसभा में किसी भी एक दल, गठबन्धन, या मोर्चे को स्पष्ट बहुमत नहीं मिले तो राज्यपाल के सम्मुख मुख्यमंत्री के चयन की समस्या उपस्थित होती है। राज्यपाल अनेक साधनों से राजनीतिक दलों और मुख्यमंत्री-पद के दावेदार व्यक्तियों के दावों की परीक्षा कर के उचित निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र होता है। इसमें राज्यपाल द्वारा विधायकों की अपने सम्मुख सशरीर परेड़ कराने, किसी राजनीतिक दल अथवा गठबंधन के नेता से अपने समर्थकों की सूची प्रस्तुत करने तथा स्वयं राज्यपाल द्वारा एक-एक कर के विधायकों से उनकी राय पूछने जैसे तरीके अपनाये जा सकते हैं। लेकिन इन सब तरीकों की अपनी-अपनी कमियाँ हैं। अतः इस बात को भी सुस्पष्ट रूप से निश्चित किया जाना अपरिहार्य है कि ऐसी स्थिति में कौन-सा तरीका सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकता है?

(2) मुख्यमंत्रियों के सतत्-बहुमत के आंकलन करने का भी गंभीर प्रश्न बना हुआ है। यदि कोई मुख्यमंत्री दलबदल, दलीय-विद्रोह, और साझेदार राजनीतिक दलों के समर्थन वापस ले लेने के कारण विधानसभा में अपना बहुमत खो दे, अथवा अल्पमत में रह जाये, तो राज्यपाल के सम्मुख जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। देश के अनेक राज्यों में ऐसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई थीं। ऐसी स्थिति में इस प्रश्न का समुचित उत्तर खोजने के लिए राज्यपालों को ऐसा कौन सा विकल्प खोजना चाहिए, ताकि विधानसभा में

मुख्यमंत्रियों के सतत् बहुमत का पता लगाया जा सके? विधानसभा में किसी मुख्यमंत्री को बहुमत का समर्थन प्राप्त है, अथवा नहीं? इसका निर्णय करते समय राज्यपाल को कौन सा मापदण्ड अपनाना चाहिए? क्या उसे इसका निर्णय 'राजभवन' में करना चाहिए अथवा नियत समय में विधानसभा की बैठक बुलाकर विधायकों की राय के आधार पर करना चाहिए? राज्यपालों को राजभवन अथवा विधानसभा में से किसी एक को चुनना ही होगा।

(3) अनेक राज्यों में राज्यपालों ने अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुए भिन्न-भिन्न आधारों पर राज्यों में मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त करने के निर्णय लिये, जिनके कारण उनको आलोचना का पात्र बनना पड़ा। इनका उल्लेखनीय पक्ष यह था कि जिन राज्यों के मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त किया गया था, वे सभी केन्द्र में सतारूढ़ दल के विरोधी दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। अतः यह प्रश्न बड़ा ही सामयिक बन गया है कि क्या राज्यपालों को मनचाहे तरीकों से मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त करने की शक्ति प्रदान की जानी चाहिए? क्या राज्यपालों को राजभवनों में कुचक्र रचकर या 'दबाव की राजनीति' के आगे समर्पण करके ऐसे मुख्यमंत्रियों को अपदस्थ करना चाहिए, जिन्हें राज्य-विधानसभा में स्पष्ट बहुमत का समर्थन प्राप्त था? क्या भ्रष्टाचार के आरोप सिद्ध हुए बिना, मात्र भ्रष्टाचार के आरोपों के आधार पर किसी मुख्यमंत्री की बर्खास्तगी को उचित ठहराया जा सकता है? क्या किसी दलीय-विद्रोह की स्थिति में मुख्यमंत्री द्वारा विधानसभा में तत्काल बहुमत सिद्ध करने के अनुरोध को अस्वीकार कर के उसे तुरन्त बर्खास्त करने के राज्यपाल के निर्णय को न्यायसंगत और तर्कसंगत ठहराया जा सकता है? ये सभी बड़े ही महत्त्वपूर्ण संवैधानिक प्रश्न हैं।

(4) विभिन्न राज्यों के राज्यपालों द्वारा विधानसभाओं की बैठक को बुलाने, स्थगित करने, सत्रावसान करने और विघटन करने के निर्णय भी बड़े विवादास्पद रहे हैं। इस सम्बन्ध में मुख्य विचारणीय मुद्दा यह है कि राज्यपाल को अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए कौन सी रीति-नीति अपनानी चाहिए? क्या उसे असाधारण परिस्थिति में समय से पूर्व ही विधानसभा की बैठक बुलाने के लिए मुख्यमंत्री को बाध्य करना चाहिए? क्या उसे विधानसभा का इस तरह से सत्रावसान करना चाहिए कि उसकी कार्यवाही से दलगत-राजनीति की गंध महसूस होती हो? क्या उसे विधानसभा में पराजय की संभावित आशंका, या विधानसभा में पराजित हुए मुंख्यमंत्री की सलाह पर विधानसभा को विघटित करने का निर्णय लेना चाहिए? इनका स्पष्ट समाधान करने पर ही राज्यपाल संस्था को बड़े विवादों से बचाया जा सकता है।

(5) राज्यपाल को विधानसभा द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति के सम्मुख विचारार्थ सुरक्षित रखने का स्व-विवेकीय अधिकार प्राप्त है। यह बड़ा ही असीमित अधिकार है। इसका सहारा लेकर राज्यपाल राज्य सरकारों द्वारा पारित विधेयकों को स्वीकृति देने में रोड़े उत्पन्न कर सकते हैं, और लोककल्याणकारी विधेयकों को कानून बनने में देरी कर सकते हैं। अतः इस प्रश्न पर भी गहन रूप से विचार करना चाहिए कि राज्यपाल

राज्य-विधानमण्डल द्वारा पारित किन विधेयकों को अपनी सहमति के लिए रोकेंगे, और किन को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए दिल्ली प्रेषित करेंगे? इनको स्वीकृति दिये जाने की समय सीमा को भी स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाना अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है। अतः इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि क्या राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति अनिश्चितकाल तक के लिए विधेयकों को रोके रख सकते हैं? **क्या संविधान के अनुच्छेद 200 तथा 201 में संशोधन किया जाना चाहिए, अथवा इन्हें संविधान से निकाल दिया जाना चाहिए ?**

(6) राज्यपालों की अध्यादेश जारी करने की शक्ति के सम्बन्ध में भी अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। क्या राज्यपालों को विधानसभा की बैठक के प्रारम्भ होने के कुछ समय पूर्व ही अध्यादेश जारी करने चाहिएँ? क्या राज्यपालों को एक ही अध्यादेश को बार-बार प्रयोग करने तथा उसे अनेक वर्षों तक लागू करने पर अपनी सहमति देनी चाहिए? क्या राज्यपालों को राज्य-मंत्रिपरिषदों द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेशों की संवैधानिकता और उनकी औचित्यता की जाँच करनी चाहिए? क्या राज्यपाल को राज्य सरकारों की 'अध्यादेश-राज' की मनोवृत्ति का समर्थन करना चाहिए? क्या राज्यपालों को स्वयं की ओर से ही अध्यादेश जारी करना चाहिए?

(7) राज्य में वैकल्पिक सरकार के गठन करने के सम्बन्ध में भी राज्यपालों की भूमिका के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। अगर कोई मुख्यमंत्री विधानसभा में पराजित हो जाए अथवा अल्पमत में रह जाने पर अपना त्यागपत्र दे दे, तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल के सम्मुख अनेक विकल्प बच जाते हैं। प्रथम, वह विपक्ष के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करे। द्वितीय, वह विधानसभा में सबसे अधिक संख्या का समर्थन वाले दल या गठबंधन के नेता को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित करे, अथवा वह पुनः उस दल के नये नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित कर सकता है, जो उसकी दृष्टि में राज्य में स्थिर सरकार बनाने में सक्षम है। लेकिन परिस्थिति तब जटिल बन जाती है जबकि किसी गठबंधन का नेता वैकल्पिक सरकार का गठन करने के लिए कुछ समय की माँग करे। ऐसी स्थिति में मुख्य प्रश्न यह है कि राज्यपाल को ऐसे व्यक्ति को कितना समय प्रदान करना चाहिए? क्या राज्यपाल द्वारा किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करते समय उसे इतना समय देना वांछनीय है, कि वह उसका लाभ उठाकर जोड़तोड़ की राजनीति का सहारा लेकर अवांछनीय तरीकों से अपना बहुमत सिद्ध कर ले? क्या यह लोकतंत्र की उच्च परम्पराओं के प्रतिकूल कदम नहीं होगा? इन सभी प्रश्नों की गहराई से समीक्षा होनी चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों की स्व-विवेकीय शक्तियों के दुरुपयोग को रोकने की जटिल समस्या विद्यमान है।

(4) अनुच्छेद-356

अनुच्छेद-356 के अन्तर्गत राज्यपालों को राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के सम्बन्ध में व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। स्वतंत्रता से लेकर अब तक राज्यपालों ने

इस शक्ति का जिस रूप में प्रयोग किया, उसके आधार पर उनको व्यापक भर्त्सना का शिकार बनना पड़ा। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मुख्य संवैधानिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं—

1. क्या इस अनुच्छेद का प्रयोग करते समय राज्यपालों द्वारा अपने आचरण से इस बात का आभास देना उचित है कि वे केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के हितों की पूर्ति कर रहे हैं? क्योंकि इसका शिकार अधिकांश रूप में विपक्षी दलों की सरकारें बनती रही हैं।

2. संविधान निर्माताओं ने इस बात की अपेक्षा की थी कि केवल असाधारण परिस्थितियों में ही इस अनुच्छेद का प्रयोग किया जायेगा। उन्होंने यह भी अपेक्षा की थी कि इसके प्रयोग करने के पीछे राज्यों में संसदीय लोकतंत्र की भावना को सशक्त करना प्रमुख होगा, तथा दलीय हितों में इसका उपयोग नहीं होगा। लेकिन पिछले 46 वर्षों में इस अनुच्छेद का जितना खुलकर, और दलीय हितों की पूर्ति को लक्ष्य बनाकर उपयोग किया गया, उसने इस प्रश्न को उजागर कर दिया है कि क्या अब भी इसे संविधान में बरकरार रखा जाना चाहिए? क्या इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करना चाहिए कि इसे संविधान से ही अलग कर दिया जाए?

3. विगत वर्षों में अनेक उदाहरणों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी राज्यपालों की भूमिका गौण या नगण्य रही है, और निर्णायक भूमिका का निर्वाह नई दिल्ली की सरकार द्वारा किया जाता रहा है। यहाँ तक की किसी राज्य विशेष (तमिलनाडु) में तो राष्ट्रपति शासन लागू करने से सम्बन्धित प्रतिवेदन भी केन्द्रीय विधि-मंत्रालय द्वारा तैयार किया गया, और राज्यपाल (के.के. शाह) ने उस पर औपचारिक रूप से अपने हस्ताक्षर मात्र कर दिये। अनेक बार तो ऐसा भी हुआ है कि राष्ट्रपति शासन पहले लागू कर दिया गया, और राज्यपालों ने राष्ट्रपति को अपने प्रतिवेदन बाद में प्रेषित किये। सन् 1977 ई. में जनता सरकार, और 1980 ई. में कांग्रेस (इं) की केन्द्रीय-सरकार द्वारा राज्यपालों के प्रतिवेदनों के बिना ही नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का असाधारण निर्णय लेकर राजनीतिक समीक्षकों को झकझोर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने भी राष्ट्रपति की एक उद्घोषणा के माध्यम से नौ राज्यों में राष्ट्रपति-शासन लागू करने के केन्द्रीय सरकार के निर्णय को वैध करार दिया था। क्या इस सबके बाद भी वर्तमान में इस अनुच्छेद की औचित्यता की समीक्षा नहीं होनी चाहिए?

4. राष्ट्रपति-शासन के दौरान राज्यपालों की भूमिका की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में कतिपय प्रश्न उजागर होते हैं — प्रथम, क्या इस अवधि में राज्यपालों को नई नियुक्तियाँ करने का अधिकार दिया जाना चाहिए? क्या राज्यपालों को पूर्व की लोकप्रिय सरकार द्वारा लिये गये निर्णयों को बदलने का अधिकार दिया जाना चाहिए? क्या राज्यपालों को नीति-सम्बन्धी वक्तव्य जारी करने चाहिएँ? इन सभी प्रश्नों पर सांगोपांग विचार किया जाना चाहिए।

(5) राज्यपाल-अभिभाषण

राज्यपाल-अभिभाषण के सम्बन्ध में जो विवाद उपस्थित हुए, उसने भी निम्न नूतन प्रश्नों को जन्म दिया — क्या किसी राज्य-मंत्रिपरिषद् की अभिभाषण के नाम पर राज्यपाल के साथ खुला संघर्ष करने की मनोवृत्ति को सांविधानिक और राजनीतिक दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता है? क्या किसी मंत्रिपरिषद् को राज्यपाल के अनुरोध करने के बावजूद भी उस पर व्यक्तिगत छींटाकशी करने वाले अंशों को राज्यपाल-अभिभाषण में बनाये रखने की छूट दी जा सकती है? क्या राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् की हठधर्मिता को मानते हुए अभिभाषण के उन आपत्तिजनक अंशों को भी पढ़ना चाहिए, जिस पर प्रारम्भ में ही उसने आपत्ति की हो? क्या राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण के उन अंशों को भी पढ़ना चाहिए, जिसमें केन्द्रीय सरकार की निन्दा की गई हो या उसकी आलोचना की गई हो? एक राज्य के उसी राज्यपाल द्वारा एक ही मुद्दे पर भिन्न-भिन्न सरकारों के समय भिन्न-भिन्न विचार प्रकट करने अर्थात् एक समय उसकी प्रशंसा करने, और दूसरे समय उसकी निन्दा करने का क्या औचित्य है? क्या राज्यपालों को मंत्रिपरिषद् द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण में संशोधन करने, उनके आशय में परिवर्तन करने अथवा उनमें नया अंश जोड़ने का अधिकार प्राप्त है? क्या वह विधानसभा में अभिभाषण पढ़ते समय अभिभाषण के अलावा भी अन्य मुद्दों पर बात कर सकता है? राज्यपाल-अभिभाषण के समय उपस्थित होने वाले अवांछनीय और अशोभनीय घटना चक्र को कैसे टाला जा सकता है? राज्यपाल को पूरा अभिभाषण पढ़ना चाहिए, अथवा इसका प्रारम्भ और अन्त का भाग पढ़कर इसकी प्रति सदन के पटल पर रखकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेनी चाहिए? अगर राज्यपाल के धन्यवाद प्रस्ताव पर किसी सरकार की पराजय हो जाए तो क्या मुख्यमंत्री को अनिवार्य रूप से त्यागपत्र देने की बाध्यता का निर्वाह करना चाहिए, अथवा त्यागपत्र से बचने के लिए लीपापोती करनी चाहिए?

(6) मुख्य कार्यपालिका की भूमिका

राज्यपाल को राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में स्वीकार किया जाता है। मुख्य कार्यपालिका के रूप में उसकी भूमिका के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं? अगर मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्य राज्य के प्रशासन और अन्य गतिविधियों की सूचना राज्यपाल को नियत समय पर प्रदान नहीं करें, अथवा उसकी उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दें, तो क्या उसे भी मुख्यमंत्री से अनिवार्य रूप से सूचना प्राप्त करने का अधिकार है? क्या राज्यपाल के पास ऐसा प्रशासनिक-तंत्र अथवा सूचना प्राप्त करने के अन्य साधन उपलब्ध हैं, जिनके माध्यम से वह राज्य के नवीनतम घटनाचक्र से अवगत रह सकता है? क्या राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को सुझाव देने, प्रोत्साहन देने और चेतावनी देने के दायित्व का निर्वाह करने में सक्षम है? क्या वह राज्य के लोकायुक्त के रूप में प्रभावशाली भूमिका का निर्वाह करके भ्रष्टाचार पर नियंत्रण स्थापित कर सकता है? क्या राज्यपाल केन्द्र को भेजे जाने वाले अपने पाक्षिक प्रतिवेदन में राज्य की वस्तुस्थिति से केन्द्र को अवगत कराने के अपने उत्तरदायित्व का सच्चे अर्थों में पालन कर सकता है, अथवा करता

है? क्या वह राज्य की योजनाओं को क्रियान्वित करने में अपनी तरफ से पहल करने में सक्षम है? क्या वह राष्ट्रीय कार्यक्रमों को लागू करने के लिए सक्षम नेतृत्व प्रदान कर सकता है? राज्यपालों की उद्देश्यपरक भूमिका के साथ जुड़े हुए इन बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया जाना नितान्त आवश्यक है।

(7) विपक्ष के साथ सम्बन्ध

राज्यपाल केवल सत्ता पक्ष की ही नहीं सुनता है, अपितु उससे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह विपक्ष का भी सम्मान करे। लेकिन विगत वर्षों की भूमिका से यह आभास नहीं होता है कि राज्यपालों और विपक्षी दलों के बीच सच्चे अर्थों में मधुर सम्बन्ध रहे हों। अनेक बार तो विपक्षी सदस्यों ने राज्यपालों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर उनके प्रति सामान्य शिष्टाचार के निर्वाह करने तक को तिलांजलि दे दी थी। अतः विपक्ष के साथ उसके सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर निम्न प्रश्न उठ खड़े होते हैं — क्या राज्यपाल अपनी निर्दलीय और निष्पक्ष भूमिका से विपक्षी दलों का सम्मान अर्जित करने की क्षमता प्रदर्शित करने में सक्षम है? क्या वह विपक्ष के सदस्यों के साथ विचार-विमर्श करके राज्य की समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न करता है? वह राज्य में संघर्ष की राजनीति के स्थान पर सहमति की भावना विकसित करने में कहाँ तक सफल हो पाता है? समय-समय पर विपक्षी दलों ने राज्यपालों को राज्यों के मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध ज्ञापन दिये हैं, परन्तु राज्यपालों द्वारा उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं किये जाने के संदर्भ में क्या यह कहना कटु सत्य नहीं है कि इस सम्बन्ध में उनकी कोई मुखरित और प्रभावशाली भूमिका नहीं रही है। क्या राज्यपाल विपक्षी दलों का सम्मान अर्जित करने में सफल रहे हैं? इन प्रश्नों का गहन विश्लेषण किया जाना चाहिए।

(8) केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

राज्यपालों की दोहरी भूमिका — राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय अभिकर्त्ता की भूमिका, दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं के रूप में उभर कर सामने आती है। अतः उन पर देश की संघात्मक व्यवस्था के सन्तुलन को बनाये रखने की बड़ी भारी जिम्मेदारी है। लेकिन संविधान में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि उनके द्वारा अपनी इन दोनों भूमिकाओं के बीच समन्वय कैसे कायम किया जायेगा, अर्थात् वे कब मुख्यमंत्रियों की इच्छाओं का पालन करते हुए राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करेंगे, और कब केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में केन्द्रीय निर्देशों का पालन करने वाली भूमिका को अंजाम देंगे? इस स्पष्टता की कमी ने इस पद की स्थिति को अत्यन्त विषम बना दिया है? विगत वर्षों के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्र और राज्यों में भिन्न-भिन्न दलों के अस्तित्व होने के कारण ही राज्यपालों की भूमिका घोर आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बनी। राज्यपालों की जिस कार्यवाही का केन्द्रीय सरकार ने पुरजोर समर्थन किया, उन्हीं कृत्यों को विपक्षी मुख्यमंत्रियों ने संविधान-विरोधी करार देकर उनकी घोर आलोचना की। इससे एक बहुत ही सामयिक प्रश्न उभर कर सामने

आता है कि राज्यपालों को केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के उचित विकास करने की दिशा में 'सकारात्मक सम्पर्क कड़ी' या 'मध्यस्थ' का दर्जा कैसे प्रदान किया जा सकता है? केन्द्र के दबाव में आकर राज्यपालों ने ऐसे कार्य भी सम्पादित किये, जिनके कारण उनकी अपने ही राज्यों के मुख्यमंत्रियों और मंत्रिपरिषद् के साथ खुला संघर्ष अथवा टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई। अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि क्या राज्यपालों को अपनी भूमिकाओं से केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को 'मधुर' बनाने के स्थान पर उन्हें और अधिक कटु बनाने की दिशा में योगदान करना चाहिए? क्या उनका यह व्यवहार देश की संघात्मक व्यवस्था के प्रतिकूल सिद्ध नहीं होगा? वे राष्ट्र-हित की भावना को साकार करने में कैसे सक्षम बनेंगे? ये प्रश्न बड़े ही विचारणीय हैं।

(9) राज्यपालों की बर्खास्तगी

कुछ राज्यपालों की बर्खास्तगी, और कुछ राज्यों के राज्यपालों को त्यागपत्र देने के लिए विवश करने की घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस धारणा का विकास हुआ कि सभी दलों की केन्द्रीय-सरकारें अपनी पूर्व सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे राज्यपालों को पद पर बने रहने देने के लिए तैयार नहीं हैं, जो केन्द्रीय निर्देशों को हर स्थिति में मानने के लिए सहमत नहीं हों। इसके साथ ही इस प्रश्न का उठना भी स्वाभाविक ही है कि राज्यपालों के कार्यकाल के पूरे होने के पूर्व ही उन्हें त्यागपत्र देने के लिए विवश करना सांविधानिक दृष्टि से कहाँ तक उचित और राजनीतिक दृष्टि से तार्किक है? क्या इससे राज्यपालों की स्वतंत्र कार्य-शैली पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, और वे पूरी तरह से अपनी स्वतंत्र कार्य-शैली का परित्याग करके केन्द्रीय नेतृत्व के उचित और अनुचित निर्णय को मानने के लिए विवश नहीं होंगे? क्या राष्ट्रपति का पूर्व सरकार द्वारा नियुक्त किये गये राज्यपालों को अयोग्यता, अक्षमता अथवा स्वास्थ्य के आधार पर त्यागपत्र देने के लिए कहना और ऐसा नहीं करने पर उन्हें बर्खास्त करने का निर्णय लेना लोकतंत्र में कहाँ तक न्यायसंगत ठहराया जा सकता है? इस दिशा में भी स्पष्ट मापदण्ड अपनाये जाने चाहिएँ।

(10) स्थानान्तरण

सन् 1967 के पूर्व राज्यपालों के स्थानान्तरण की परम्परा नहीं थी। लेकिन सन् 1980 ई. के बाद अनेक राज्यों के राज्यपालों को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरित किया गया। भारतीय संविधान में राज्यपालों के स्थानान्तरण का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या इस सम्बन्ध में निश्चित संवैधानिक प्रावधानों का निर्माण किया जाना चाहिए अथवा नहीं? दूसरे, एक बड़े राज्य के राज्यपाल का छोटे राज्य में स्थानान्तरण के बाद भी उसे अपने पद पर बने रहना चाहिए, अथवा नहीं? एक ही राज्य (पंजाब) में पाँच वर्षों में नौ राज्यपालों की नियुक्ति को कहाँ तक उचित ठहराया जा सकता है? क्या इन स्थानान्तरणों से राज्यपालों का मनोबल नहीं गिरता है और साथ ही क्या राज्य-प्रशासन पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है? एक ही राज्यपाल का उसकी एक समयावधि में दो से भी अधिक राज्यों में स्थानान्तरण को

तर्कसंगत कैसे ठहराया जा सकता है? क्या दूसरे राज्य में स्थानान्तरित हुए राज्यपाल का उस प्रदेश में शपथ लेने का तात्पर्य उसकी पाँच वर्ष की पुनः सेवा-अवधि की स्वीकृति तो नहीं है? ये सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं।

(11) राजनीतिक भूमिका

अनेक राज्यपालों द्वारा सक्रिय राजनीति में भाग लेने की पृष्ठभूमि में इस प्रश्न का समाधान खोजना अत्यावश्यक है कि क्या उनका अपने पद पर बने रहकर राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने की प्रवृत्ति को उचित करार दिया जा सकता है? क्या इससे उनके पद की गरिमा और प्रतिष्ठा नहीं गिरती है? क्या ऐसे राज्यपालों को नियंत्रित करने के लिए कोई आचार-संहिता नहीं बनाई जानी चाहिए? क्या ऐसे राज्यपालों को राष्ट्रपति द्वारा बर्खास्त नहीं किया जाना चाहिए? क्या राज्यपाल-पद से सेवा-निवृत्त होने के बाद राज्यपालों को राजनीति में भाग लेना चाहिए? क्या राज्यपालों को अपने पद पर रहते हुए किसी दल के समारोह में भाग लेने के निर्णय को उचित ठहराया जा सकता है? क्या किसी राज्यपाल के अपने गृह-प्रदेश की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने और नेतृत्व परिवर्तन के लिए उसकी की गई राजनीतिक यात्राओं को वांछनीय करार दिया जा सकता है? क्या राज्यपाल पद पर बने रहते हुए राज्यपालों की विधानसभा चुनावों में सक्रिय भूमिका को सही माना जा सकता है? क्या उन्हें अपने पद पर बने रहते हुए राजनैतिक-वक्तव्य देने चाहिएँ? क्या उनका बार-बार नई दिल्ली की 'राजनीतिक यात्राएँ' करना उचित है? क्या राज्यपालों का राज्य के मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध वातावरण बनाना, उनके विरुद्ध प्रतिकूल टिप्पणियाँ करना, और मंत्रियों को भड़काने की प्रवृत्ति को उचित करार दिया जा सकता है?

(12) विधानसभाध्यक्षों के आचरण और राज्यपालों की भूमिका

सन् 1967 ई. के बाद कतिपय राज्यों के विधानसभाध्यक्षों के आचरण से भी गंभीर राजनीतिक संकट उठ खड़े हुए, और कुछ राज्यों में तो राष्ट्रपति शासन तक लागू करना पड़ा। उनकी कार्यवाहियों से निम्न प्रश्न उपस्थित हुए — क्या किसी विधानसभाध्यक्ष द्वारा जान-बूझकर राज्य में उत्पन्न किये गये राजनीतिक-संकट का प्रतिकार करने के लिए राज्यपाल के पास कोई सही विकल्प है? क्या वह विधानसभाध्यक्ष को सदन की कार्यवाही का सही रूप से संचालन करने के लिए बाध्य कर सकता है? अगर कोई विधानसभाध्यक्ष किसी विपक्षी नेता की विपक्ष के नेता के रूप में मान्यता समाप्त करने का निर्णय ले, और राज्य के विधायक उसके निर्णय को गलत सिद्ध करने के लिए राज्यपाल के सम्मुख 'परेड' करके प्रमाण सहित विधानसभाध्यक्ष के निर्णय को गलत साबित कर दें तो इस सम्बन्ध में राज्यपाल की क्या भूमिका होनी चाहिए? राज्यपाल विधानसभाओं में अध्यक्षों की गरिमा कैसे सुरक्षित रख सकते हैं?

(13) कुलाधिपति की भूमिका

राज्य के विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में भी राज्यपाल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समय-समय पर इस सम्बन्ध में भी राज्यपालों की भूमिका विवादास्पद रही है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उजागर होता है कि राज्य में शैक्षणिक वातावरण को सही दिशा प्रदान करने और विश्वविद्यालयों की सामाजिक और राष्ट्रीय भूमिका की सार्थकता के सम्बन्ध में राज्यपालों की क्या भूमिका होनी चाहिए? उनके द्वारा कुलपतियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में क्या मापदण्ड अपनाये जाने चाहिएँ, और इस सम्बन्ध में राज्य-मंत्रिपरिषद् के साथ राज्यपाल के क्या सम्बन्ध होने चाहिएँ? राज्य में उच्च-शिक्षा के विकास तथा इसके स्तर में सुधार, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता की रक्षा, इनके प्रशासन का कुशलतापूर्वक संचालन, तथा विश्वविद्यालयों की गतिविधियों में समन्वय बनाये रखने के सम्बन्ध में राज्यपालों की क्या भूमिका होनी चाहिए? क्या इस बात का निर्धारण करना भी राज्यपालों का दायित्व नहीं है कि सत्तारूढ़ दल विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप करके राज्य के शैक्षणिक जीवन को दूषित तो नहीं कर रहा है? अगर मुख्यमंत्री अथवा कोई कुलपति किसी विवाद में लिप्त हो जायें तो राज्यपाल की क्या भूमिका होनी चाहिए? अगर विश्वविद्यालय की सीनेट किसी राज्यपाल के आचरण के विरुद्ध प्रतिकूल टिप्पणियाँ करे या उसके किसी कृत्य की भर्त्सना करे तो उस राज्यपाल का अगला निर्णय क्या होगा? अगर विश्वविद्यालय और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों के प्राध्यापक अपनी सेवा-शर्तों और अधिकारों के लिए संघर्ष करें और राज्य सरकारों द्वारा उनकी उपेक्षा करने से राज्य में शैक्षणिक-जीवन ठप्प हो जाये तो राज्यपालों को इस गतिरोध को समाप्त करने की दृष्टि से क्या अपनी तरफ से पहल नहीं करनी चाहिए? इस तरह से राज्यपालों की इस भूमिका पर उपयोगी बहस की जानी चाहिए।

(14) राज्यपालों को अपने पद से हटाया जाना

विभिन्न राज्यपालों की विवादास्पद भूमिका के संदर्भ में यह आवाज भी उठाई जाती रही है कि उन्हें हटाये जाने की एक निश्चित प्रक्रिया होनी चाहिए, अन्यथा केन्द्र में सत्तारूढ़ दल इस पद का अपने दलीय-स्वार्थों में उपयोग करता रहेगा। वर्तमान व्यवस्था में राज्य-विधानमंडल और जनमत के पूर्ण विरोध करने के बावजूद भी उसे तब तक हटाया नहीं जा सकता, जब तक कि उसे राष्ट्रपति का विश्वास प्राप्त है। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ऐसी स्थिति में वह राज्य-मंत्रिपरिषद् और राज्य-विधानमंडल की उपेक्षा नहीं करेगा? क्या राज्यपाल को राज्य की जनता के प्रतिनिधि सदन के प्रति उसी रूप में उत्तरदायी नहीं होना चाहिए, जिस तरह से केन्द्र में राष्ट्रपति से लेकर मंत्रिमंडल तक संसद के प्रति उत्तरदायी है? क्या राज्यपाल के विरुद्ध उसी तरह का महाभियोग नहीं लगाया जाना चाहिए, जिस तरह से केन्द्र में राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाया जाता है? क्या राज्य-विधानमंडल के दो-तिहाई बहुमत के आधार पर राज्यपाल को महाभियोग की प्रक्रिया से अपने पद से अलग नहीं किया जाना चाहिए? यदि कोई राज्यपाल संविधान-विरोधी और अनैतिक कार्य भी करे, तो क्या उसको सत्तारूढ़ दल द्वारा नहीं हटाये जाने तक सहन

किया जाना चाहिए? क्या राज्य-विधानमंडल की उसे पद से अपदस्थ किये जाने की शक्ति प्रदान करने मात्र से वह अपने आपको नियंत्रित अनुभव करके संवैधानिक सीमाओं में रहकर कार्य करने के लिए बाध्य नहीं होगा? क्या ऐसी स्थिति में वह विवेक और उत्तरदायित्व से प्रेरित होकर कार्य नहीं करेगा? अतः राज्यपालों को उनके पद से अलग करने की प्रक्रिया पर भी विचार होना चाहिए।

(15) क्या राज्यपाल पद व्यर्थ है?

राज्यपालों की भूमिका के संदर्भ में अनेक बार यह माँग उठती रही है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यपालों की सकारात्मक भूमिका नहीं रही है, अतः इस पद को बनाये रखने का कोई औचित्य नहीं है। समय-समय पर संविधानवेत्ताओं, राजनीतिक समीक्षकों और टीकाकारों, और राजनीतिक दलों के नेताओं ने भी इस पद को समाप्त करने की माँग की है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि क्या राज्यपाल पद को समाप्त कर देना चाहिए, या इस पद को सार्थक बनाने के लिए राज्यपालों में स्पष्ट दायित्व-बोध की भावना का सूत्रपात करना चाहिए? देश की संघात्मक व्यवस्था के परिचालन में इस पद को कैसे उपयोगी बनाया जा सकता है? इस पद के प्रति जन-आस्था को बनाये रखने की दिशा में क्या ठोस कदम उठाये जा सकते हैं? क्या इस सम्बन्ध में उचित संवैधानिक अभिसमयों का विकास किया जाना चाहिए, अथवा संविधान में संशोधन करना चाहिए? इस आधारभूत प्रश्न का समाधान खोजने पर ही राज्यपाल पद से जुड़े सभी विवादों का हल खोजा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल-पद की सांविधानिक और व्यावहारिक भूमिका के साथ अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं। इन प्रश्नों पर व्यापक चर्चाएँ भी हुई हैं। अनेक आयोगों और समितियों ने भी अपने प्रतिवेदनों में इन मुद्दों पर अपना मत प्रकट किया है। लेकिन अब तक कोई आम सहमति की भावना नहीं बन सकी है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस संदर्भ में व्यापक सहमति की स्थिति को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक विचार-विमर्श करके कोई आम सहमति प्राप्त की जाये।

अध्याय -19

राज्यपाल-पद की सार्थकता

राज्यपाल जैसी महान् संस्था आज विवादों और आलोचनाओं के घेरे में फँस गई है। अनेक अवसरों पर यह आवाज उठाई जाती रही है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था में यह पद अपनी उपयोगिता और सार्थकता खो चुका है, अतः इस पद को बनाये रखने का कोई औचित्य नहीं है। विभिन्न राज्यों में राज्यपालों के क्रिया-कलापों और राजनैतिक संकटों के समय उनकी नकारात्मक भूमिका ने इस पद की गरिमा, प्रतिष्ठा और सम्मान को गहरा आघात पहुँचाया है। समय-समय पर राज्यपालों के कृत्यों की संसद, राज्य-विधानमंडलों और सार्वजनिक मंचों से भर्त्सना भी की गई है। राज्यपालों की होने वाली खुलेआम अवज्ञा, उनके खिलाफ होने वाले जन प्रदर्शनों, घेराव की घटनाओं और उन्हें बर्खास्त किये जाने और हटाये जाने के संदर्भ में इस बात का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या वर्तमान समय में इस पद को बरकरार रखा जाना चाहिए? इस पद के प्रति जन-साधारण की आस्था में भारी कमी आई है।

इस पद की सार्थकता के आगे निम्न कारणों से प्रश्न-वाचक चिह्न उपस्थित हुये हैं —

1. संविधान-निर्माताओं का स्वप्न पूरा नहीं होना

संविधान-निर्माताओं ने राज्यपालों से यह अपेक्षा की थी कि वे देश की संघात्मक और संसदीय शासन व्यवस्था को शक्ति प्रदान करने में रचनात्मक और बहुमुखी भूमिका का निर्वाह करेंगे। संविधान सभा में हुई बहस से यह स्पष्ट पता चलता है कि संविधान-निर्माता, राज्यपालों से राज्य के संवैधानिक प्रधान और केन्द्रीय अभिकर्त्ता की भूमिका में सन्तुलन कायम करके उचित भूमिका के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की अपेक्षा करते थे। संविधान-निर्माता यह भी चाहते थे कि राज्यपाल केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास की 'मधुरतम कड़ी' बने। उनका यह भी विश्वास था कि राज्यपाल-पद पर उच्च कोटि के व्यक्ति प्रतिष्ठित होंगे। उनकी यह भी धारणा थी कि राज्यपाल राज्य में अपनी गत्यात्मक और सकारात्मक भूमिका से राज्यों में लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का कुशलतापूर्वक संचालन

करने में समर्थ बनेंगे। वे राज्य के निष्पक्ष और तटस्थ कार्यपालिका प्रधान के रूप में अपने दायित्वों का निर्वाह करके संघर्ष के स्थान पर 'सहमति की राजनीति' की भावना का विकास कर सकेंगे। लेकिन विगत चालीस वर्षों में राज्यों के राज्यपालों द्वारा निर्वाह की गई भूमिका के अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके आचरण से संविधान-निर्माताओं की अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुई हैं। वे सहकारी संघवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने में भी अपनी अपेक्षित भूमिका का निर्वाह नहीं कर सके। वे राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की और केन्द्रीय अभिकर्त्ता की भूमिका में सन्तुलन स्थापित नहीं कर सके। बार-बार गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों द्वारा उनके प्रति शंका और अविश्वास प्रकट किया गया। फलतः उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं हो सका, जिसके लिए संविधान-निर्माताओं ने स्वप्न संजोया था।

2. औपनिवेशिक-पृष्ठभूमि

स्वतंत्र भारत में सन् 1919 और 1935 ई. के अधिनियमों के आधार ही इस संस्था का निर्माण किया गया है। अत. इस पद के साथ औपनिवेशिक अतीत, नौकरशाही की मानसिकता, आभिजात्य और कुलीनतंत्री पृष्ठभूमि जुड़ी हुई है। आज भी राज्यपालों के लिए 'महामहिम' शब्द का सम्बोधन किया जाता है। राज्यपालों के वेतन, भत्तों, और विशेषाधिकारों के कारण ही इस पद को 'ग्लैमर का पद' कहा जाता है। वर्तमान में भी राजभवनों की शान-शौकत और तड़क-भड़क में ब्रिटिश काल के राज्यपालों की विरासत स्पष्ट रूप से झलकती है। अतः अनेक लोग इस पद को 'लाट साहब का पद' या 'बड़े साहब के पद' की संज्ञा देते हैं। आज भी राज्यपालों तक जनसाधारण की पहुँच सरल नहीं है। राज्यपालों का जनसाधारण से प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्पर्क नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल पद जन-साधारण के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका है।

3. उपहार का पद

स्वतंत्रता के बाद से इस पद पर जिस तरह के लोगों की नियुक्तियाँ की गईं उससे इस पद का महत्त्व कम होता गया। केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी दलों की सरकारों ने राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में उच्च लोकतांत्रिक मापदण्डों का सहारा नहीं लिया। अपने दलगत हितों को ध्यान में रखकर ही राज्यपालों की नियुक्ति की गई। फलस्वरूप यह पद तिरस्कृत राजनेताओं के लिए 'उपहार का पद' बन गया। अधिकांशतः इस पद पर हटाये गये केन्द्रीय मंत्रियों, सत्ता से पदच्युत किये गये मुख्यमंत्रियों, सेवानिवृत्त लोकसभा अध्यक्षों, सक्रिय राजनीति से अलग हुए नेताओं, लोकसभा के चुनाव में पराजित हुए राजनीतिज्ञों, असंतुष्ट प्रादेशिक नेताओं और प्रधानमंत्रियों के विश्वस्त और कृपापात्र व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। नियुक्ति की इस परम्परा ने इस पद का अवमूल्यन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। अतः आम जनता में इस पद के प्रति महत्त्व और आकर्षण की भावना समाप्त हो गई है।

4. भूमिका में सन्तुलन नहीं

राज्यपाल को दोहरी भूमिका— राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में, निर्वाह करना पड़ता है। राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में, राज्यपाल अपनी मंत्रिपरिषद् को उपयोगी सलाह, सुझाव, प्रोत्साहन और चेतावनी देकर अत्यन्त रचनात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं। वे राज्य की समस्याओं और आवश्यकताओं के बारे में केन्द्रीय सरकार पर राज्यों को अधिक सहायता देने के लिए भी दबाव डाल सकते हैं। वे मुख्यमंत्रियों के साथ सहयोग और समन्वय की भावना अपनाकर राज्य प्रशासन को गति प्रदान कर सकते हैं और भ्रष्टाचार पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। राज्य की लोककल्याणकारी और रचनात्मक गतिविधियों के क्रियान्वयन में प्रभावी भूमिका अदा कर सकते हैं। लेकिन व्यवहार में, राज्यपालों के आचरणगत-व्यवहार का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों ने प्रभावी रूप से 'राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष' के उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं किया। संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में उन्होंने मात्र 'औपचारिक भूमिका' का निर्वाह करने तक अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। इसमें राज्य विधानसभा का चुनाव संपन्न होने के बाद मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को शपथ दिलाने, नई विधानसभा के गठन करने के लिए अधिसूचना जारी करने, विधानसभा का सत्र बुलाने, स्थगित करने, सत्रावसान करने और विधानसभा का विघटन करने, मुख्यमंत्री की सलाह पर मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन करने और मंत्रियों को बर्खास्त करने, राज्य में महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ करने, राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के बारे में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजने, अध्यादेश जारी करने, विधेयकों को स्वीकृति प्रदान करने तथा राष्ट्रपति के विचारार्थ विधेयकों को सुरक्षित रखने, सार्वजनिक समारोहों की अध्यक्षता करने, औपचारिक उद्घाटन करने और राज्यपाल सम्मेलनों में भाग लेने तक के ही कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है। राज्यों के शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों नें अपने राज्यपालों की उपेक्षा की। फलस्वरूप अनेक बार तो राज्यपालों ने प्रधानमंत्रियों से मुख्यमंत्रियों के व्यवहार के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए उनसे शिकायत तक की। संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपालों ने राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में, राज्य-विधानमंडल के महत्त्वपूर्ण और अभिन्न अंग के रूप में, विश्वविद्यालयों के कुलाधिपति के रूप में, लोकपाल के रूप में, मन्त्रिपरिषद् के मित्र, सलाहकार और मार्गदर्शक के रूप में, जनता और राज्य-विधानमंडल तथा मंत्रिपरिषद् और विधानमंडल के बीच सम्पर्क कड़ी के रूप में, तथा राज्य की जनता के अभिभावक के रूप में अपनी भूमिका का शक्तिशाली और प्रभावशाली रूप से प्रदर्शन नहीं किया। फलस्वरूप राज्यों में असैद्धान्तिक और अवसरवादी राजनीति, सत्ताकांक्षी नेतृत्व सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति, प्रशासनिक लालफीताशाही, और योजनाओं के लाभ जनसाधारण तक नहीं पहुँचने जैसी बुराइयों का जन्म हुआ। संक्षेप में राज्यपालों की संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में, भूमिका नगण्य अथवा गौण हो गई। इसके स्थान पर 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता (Agent of the centre)' की भूमिका प्रमुख बन गई। विगत चालीस वर्षों के उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर, राज्यपालों ने 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता' की भूमिका को ही सर्वोच्च मानकर उसे प्रथमिकता दी है। इससे उसकी भूमिका में सन्तुलन नहीं रह सका, और यह विवादों

के भँवर में फँस गया। व्यवहार में, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब राज्यपालों की इन भूमिकाओं में टकराहट या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई है तो राज्यपालों ने 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता' के रूप में ही कार्य किया है। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विचार करने वाली राजमन्नार समिति ने इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "आज वह एक स्वतंत्र सांविधानिक सत्ता न होकर केन्द्रीय सरकार का अधीनस्थ कर्मचारी मात्र बन कर रह गया है।"[1] इससे राज्यपालों की व्यापक आलोचना हुई।

5. अनगिनत आरोप

सन् 1950 ई. से 1967 ई. तक के युग में केन्द्र और सभी राज्यों में (कतिपय अपवादों को छोड़कर) कांग्रेस दल सत्ता में रहा। फलस्वरूप केन्द्र-राज्य सम्बन्ध मधुर बने रहे। इस स्थिति में राज्यपालों की न तो केन्द्रीय-अभिकर्त्ता की भूमिका मुखरित हो सकी, और न ही वे इन दोनों के बीच प्रभावशाली 'सम्पर्क सूत्र' की भूमिका का ही निर्वाह कर सके। राज्यों की राजनीतिक स्थिरता, राज्य स्तर पर शक्तिशाली नेतृत्व, गरिमामय और औपचारिक संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका को स्वीकार किये जाने, केन्द्रीय नेतृत्व की राज्य सरकारों पर नियंत्रणकारी और प्रभावी भूमिका और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में मधुरता के कारण राज्यपालों को चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ा। लेकिन सन् 1967 ई. के बाद देश की राजनीतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आये। अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में नूतन आयाम उपस्थित हुए। ये गैर कांग्रेसी-सरकारें राज्यपालों को विपक्षी दलों की संविद सरकारों को अपदस्थ करने वाले 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता' की तरह मानकर उन पर आरोप लगाने लगीं। विरोधी दलों द्वारा इस पद को समाप्त किये जाने की भी माँग की जाने लगी। राज्यपालों पर अपने स्व-विवेकीय अधिकारों के दुरुपयोग के अनेक आरोप लगाये गये। समय-समय पर गैर कांग्रेसी विपक्षी दलों द्वारा राज्यपालों पर निम्न प्रकार के आरोप लगाये गये — प्रथम, केन्द्रीय सरकार के इन 'विश्वस्त और कृपापात्र' व्यक्तियों ने केन्द्रीय सरकार के हितों को प्राथमिक मानकर ही अपनी भूमिका और कार्यशैली का निर्वाह किया है। द्वितीय, उन्होंने राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की तुलना में केन्द्रीय-अभिकर्त्ता की भूमिका को ही सर्वोच्च मानकर अपनी राज्य सरकार की तुलना में केन्द्रीय सरकार को अधिक महत्त्व दिया है। तृतीय, राज्यपालों ने केन्द्र के इशारे पर विपक्षी दलों की सरकारों को बर्खास्त करने का कार्य किया है। डॉ. इकबाल नारायण ने भी लिखा है कि "उसे राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों को गिराने के लिए केन्द्र के कथित षड्यंत्र के यंत्र के रूप में देखा गया।"[2] जनवरी, 1983 ई. के तीसरे सप्ताह में राज्यपालों की भूमिका के बारे में कर्नाटक विधानसभा में 'श्वेत पत्र' रखते हुए मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेगड़े ने राज्यपालों पर यह गंभीर आरोप लगाया कि उन्होंने सदैव ही केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के 'बहकावे' (Instigation) में आकर कार्य किया है।[3] 3 जनवरी, 1986 ई. को हैदराबाद में अपनी पार्टी तेलगुदेशम के तीन दिवसीय वार्षिक सम्मेलन (महानाडु) में प्रतिनिधियों के सत्र का उद्घाटन करते हुए आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री एन.टी. रामाराव ने अगस्त, 1984 ई. में अपनी सरकार के हटाए जाने और उसके बाद लोकतन्त्र की बहाली के लिए हुए संघर्ष का उल्लेख करते हुए कहा कि

राज्यपाल केन्द्र सरकार के जासूस का कार्य कर रहे हैं।[4] सामान्य काल में वह केन्द्र के प्रभावशाली यंत्र के रूप में काम करता है। असामान्य काल में राज्य सरकार की समस्याओं से निपटने के लिए वह, जहाँ तक संभव हो, नई दिल्ली में स्थित अपने वास्तविक स्वामियों की इच्छाओं के अनुसार कदम उठाता है।[5] चतुर्थ, राज्यपालों ने केन्द्रीय सरकार को प्रसन्न करने के लिए ही अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग किया है। इनसे गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों को नुकसान उठाना पड़ा है। पंचम्, गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों के प्रति राज्यपालों ने दोहरे मापदण्डों का सहारा लिया है। षष्ठ, राज्यपालों ने अनुच्छेद-356 का पक्षपातपूर्ण ढँग से उपयोग करके गैर कांग्रेसी सरकारों को बर्खास्त करने अथवा बर्खास्त करने की पृष्ठभूमि तैयार की है। सप्तम्, राज्यपालों की कार्यवाहियों ने राज्यों में कार्य कर रहे विपक्षी कांग्रेसी नेताओं को प्रोत्साहित करके उन्हें विपक्षी दलों की सरकारों को अपदस्थ करने के लिए प्रेरित किया है। इतना ही नहीं उन्होंने कांग्रेस दल की आन्तरिक गुटवादिता को ठीक करने के लिए भी सक्रिय भूमिका का निर्वाह किया है। अष्टम्, गैर कांग्रेसी सरकारों द्वारा राज्यपालों पर यह भी आरोप लगाया गया कि उन्होंने राज्यों के धन का दुरुपयोग करते हुए अपने व्यक्तिगत और राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति करने के उद्देश्य से नई दिल्ली की "राजनीतिक यात्राएँ" की हैं। ऐसा कर के उन्होंने राज्य सरकारों के लिए कठिनाइयाँ ही उपस्थित की हैं। नवम्, राज्यों के विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों की नियुक्ति करते समय भी राज्यपालों ने स्वेच्छाचारिता का परिचय देकर राज्य-मंत्रिपरिषद् के सम्मुख अवांछनीय परिस्थितियाँ उत्पन्न की हैं। दशम्, राज्यपालों ने राज्य-विधानमंडलों द्वारा पारित विधेयकों को स्वीकृति प्रदान करने अथवा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोके रखने में भी पक्षपात का परिचय दिया है। ग्यारहवें, चुनावों के समय राज्यपालों के केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के पक्ष में अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करके निष्पक्षता और राजनीतिक तटस्थता की सारी मर्यादाओं और सीमाओं का उल्लंघन किया है। संक्षेप में, यहीं कहा जा सकता है कि गैर-कांग्रेसी सरकारों ने राज्यपालों की केन्द्र-समर्थक भूमिका की सार्वजनिक रूप से निन्दा की।

6. केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में तनाव

भारतीय संविधान में राज्यपालों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे अपनी निष्पक्ष और रचनात्मक भूमिका के द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच 'सशक्त सम्पर्क सूत्र' का कार्य करके देश की संघात्मक व्यवस्था को सशक्त करेंगे। लेकिन सन् 1967 ई. के बाद राज्यपालों की भूमिका ने केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में विष घोल दिया। उनकी भूमिका के कारण अनेक बार केन्द्रीय सरकार को विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों और राज्यपालों के बीच 'खुला संघर्ष' देखने को मिला। राज्यपालों के इस आचरण के लिए केन्द्र में सत्तारूढ़ होने वाली सरकारों द्वारा इस पद का अपने राजनीतिक स्वार्थों में प्रयोग करने की भावना को ही उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। राज्यपालों ने केन्द्रीय सरकार की भावना, अपेक्षा, और इच्छा के अनुरूप ही आचरण किया। फलस्वरूप वे गैर कांग्रेसी सरकारों का विश्वास अर्जित करने में पूरी तरह से असफल रहे। वे उनके प्रत्येक कदम और निर्णय के प्रति शंका करने लगे। "केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों

द्वारा राज्यपाल पद के दुरुपयोग करने के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए श्री भवानीशंकर पंचारिया ने ठीक ही लिखा है कि "केन्द्र में जब जो दल सत्तारूढ़ हुआ, उसने अपने दलीय स्वार्थ की पूर्ति और विपक्षी सरकारों को झकझोरने, हिलाने और गिराने में इस पद का दोहन किया। अतएव संविधान के प्रारम्भ से लेकर हाल के वर्षों में इस पद को लेकर राज्यों में अत्यन्त रोष और आक्रोश देखा जाता है।"[6] गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों की राज्यपालों की भूमिका के प्रति अविश्वास और शंका की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए श्री पंचारिया ने लिखा है कि "राज्यपालों से विशेषकर उस मुख्यमंत्री को जो केन्द्र से भिन्न निष्ठा और केन्द्र की मर्जी के खिलाफ मंत्रिमंडल का गठन करते हैं, हमेशा यह भय बना रहता है कि न जाने कब उसके खिलाफ राज्यपाल का गलत-सलत प्रतिवेदन उसकी वैधानिक और लोकतांत्रिक तरीके से चुनी-चुनाई अच्छी-भली सरकार को राष्ट्रपतीय शासन के अन्तर्गत परिवर्तित कर दे।"[7] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा न केवल गैर कांग्रेसी विपक्षी सरकारों को अपदस्थ करने और आतंकित करने के लिए ही इस पद का सहारा लिया गया, अपितु अपने दलों के उन मुख्यमंत्रियों को नियंत्रित करने और उन्हें त्यागपत्र दिलवाने के लिए भी इस पद का उपयोग किया गया जो केन्द्र का अन्धानुकरण नहीं करने और स्वतंत्र मार्ग पर चलने को 'कटिबद्ध' थे। केन्द्र द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति, राज्यपालों द्वारा मुख्यमंत्रियों के चयन, मंत्रिमंडलों की बर्खास्तगी, विधानसभाओं के अधिवेशन को आहूत करने और विघटित करने, राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय, और राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर स्वीकृति प्रदान करने के निर्णय विवादास्पद बने। इनमें राज्यपालों की जो भूमिका रही, उससे केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में उलझन और तनाव की स्थितियाँ उपस्थित हुईं। अनेक राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने तो केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध खुला संघर्ष तक छेड़ दिया था।

7. गिरती छवि

राज्यपालों की विवादास्पद भूमिका ने उनकी प्रतिष्ठा और छवि को गहरा आघात पहुँचाया है। राज्यपालों की राजनीतिक भूमिका, उनका अनेक विवादों में उलझना और राज्य में उद्देश्यपरक भूमिका का निर्वाह करने की इच्छा-शक्ति के अभाव ने इस संस्था की छवि को धूमिल किया है। जनसाधारण में यह धारणा बन गई है कि राज्यपालों से किसी भी रचनात्मक भूमिका के निर्वाह करने की अपेक्षा करना व्यर्थ है। यह भी जन-धारणा विकसित हो गई है कि जब भी वे अपने स्व-विवेकीय अधिकारों का प्रयोग करेंगे, तो उनका लक्ष्य केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के दलीय निर्देशों के हितों की पूर्ति करना होगा। यह भी आम-धारणा बनती जा रही है कि यह विलासिता का एक ऐसा पद है, जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है, अतः इसे बनाये रखने का कोई औचित्य नहीं है। इस तरह से राज्यपालों के सम्मान में बड़ी भारी कमी आई है।

पद को समाप्त करने की उठती माँग

समय-समय पर राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग भी बराबर उठती रही है। भारतीय साम्यवादी दल के नेता स्व. भूपेश गुप्त ने कहा था कि — यह पद ही

समाप्त कर देना चाहिए, क्योंकि इस पद की गरिमा नष्ट हो गई है। राज्यपाल का पद उपहास का विषय बन गया है। आजकल के राज्यपाल मुगल-शैली के सूबेदारों की तरह काम कर रहे हैं। लोकतंत्र में इनकी जरूरत नहीं है। यह हमारी व्यवस्था में एक तरह का अराजकतावाद है।[8] 5 मई, 1987 ई. को लोकसभा में राज्यपाल, उपलब्धियाँ, भत्ते और संशोधनकारी विधेयक, 1987 ई. पर लोकसभा में व्यापक बहस हुई। असम गणपरिषद् के श्री दिनेश गोस्वामी का कहना था कि —"हमारी प्रणाली में राष्ट्रपति, प्रधान न्यायाधीश, प्रधानमंत्री तथा अन्य की कोई न कोई जवाबदेही है, और हम किसी न किसी रूप में उनके कार्यों पर चर्चा कर उन्हें हटा सकते हैं, लेकिन राज्यपाल इन सबसे मुक्त है, और उसकी कोई जवाबदेही नहीं है।" उन्होंने आगे आरोप लगाया कि "राज्यपाल का केन्द्र के गुप्तचर एजेण्ट के रूप में तथा पार्टी के कामकाज के लिए उपयोग किया जाता है।"[9] चर्चा के दौरान विपक्षी सदस्यों ने राज्यपालों को केन्द्र का एजेण्ट बताया और उनके कामकाज की कड़ी आलोचना की।[10]

9 मई, 1987 ई. को शिरोमणि अकाली दल (लोगोंवाल) द्वारा नई दिल्ली में आयोजित गोष्ठी में दो राज्यों में सत्तारूढ़ दलों ने राज्यपाल को केन्द्र सरकार का एजेण्ट करार देते हुए आरोप लगाया कि दरअसल राज्यपालों की नियुक्ति राज्यों को कमजोर करने की सोची-समझी साजिश का एक अंग मात्र है। पंजाब में सत्तारूढ़ अकाली दल (लोगोंवाल) के वित्तमंत्री श्री बलवन्तसिंह तथा आन्ध्रप्रदेश तेलगुदेशम के सांसद प्रो. सी. लक्ष्मणन ने यह आरोप केन्द्र राज्य-सम्बन्धों पर आयोजित गोष्ठी में लगाया। श्री लक्ष्मणन ने कहा कि तेलगुदेशम राज्यपाल-पद को हाथ की ऐसी फालतू छठी अंगुली मानती है जिसको काट देने में ही देश की भलाई है।[11]

11 मई, 1987 ई. को राज्यसभा में राज्यपाल, उपलब्धियों, भत्ते और विशेषाधिकार संशोधन विधेयक, 1987 ई. पर हुई बहस में भाग लेते हुए अनेक विपक्षी सदस्यों ने राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग की। 'राज्यपाल वेतन, भत्ते और विशेषाधिकार संशोधन विधेयक' पर बहस प्रारम्भ करते हुए मुस्तफा बिन कासिम (मार्क्सवादी) ने कहा कि राज्यपाल का पद अनावश्यक है, और वह ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की देन है। उन्होंने यह भी कहा कि सत्तारूढ़ दल द्वारा राज्यपाल पद का दुरुपयोग, अमान्य किये गये राजनीतिज्ञों को स्थान देने के लिए किया जाता है। श्री एम.एम. गुरुपादस्वामी (जनता) ने माँग की कि राज्यपाल का पद समाप्त कर दिया जाये, क्योंकि इसके कारण विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों में कई बार अस्थिरता की स्थिति बनी है। श्री वल्लभपुरी (अन्नाद्रमुक) ने कहा कि राज्यपाल के पद का इस्तेमाल आमतौर पर राज्यों में विपक्षी सरकारों को अस्थिर बनाने के लिए किया जाता रहा है, जो ठीक नहीं है। तेलगुदेशम के पी. उपेन्द्र ने राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग करते हुए कहा कि राज्यपालों की राज्य प्रशासन में कोई उपयोगी भूमिका नहीं है। उन्होंने कहा कि राज्यपाल केन्द्रीय सरकार के ऐजेण्ट हैं, जो राज्य सरकार की गतिविधियों पर जासूसी करते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि राजभवनों के रखरखाव और राज्य में और राज्य के बाहर राज्यपालों के दौरों पर विपुल धनराशि व्यय की जाती है। अमान्य किये गये राजनीतिज्ञों को इस पर नियुक्त किया

जाता रहा है। श्री जगदम्बीप्रसाद यादव (भाजपा) ने कहा कि राज्यपाल केन्द्र सरकार के हाथों की कठपुतली बन गये हैं। श्री रामअवधेशसिंह (लोकदल) ने भी राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग की।[12]

राज्यपालों पर महाभियोग की माँग

राज्यपालों की भूमिका को नियंत्रित करने के लिए संसद और संसद के बाहर व्यापक चर्चाओं और अनवरत बहस का क्रम जारी रहा। 12 अगस्त, 1988 को फारवर्ड ब्लाक के चित बसु ने राज्यसभा में अपने निजी विधेयक में माँग की कि राज्यपालों पर महाभियोग लगाने के लिए संविधान में व्यवस्था की जानी चाहिए। उन्होंने कहा कि कई बार राज्यपाल ऐसी कार्रवाई कर देते हैं, जो वस्तुतः संविधान का उल्लंघन होती है। उन्होंने तमिलनाडु एवं नागालैण्ड के राज्यपालों द्वारा संविधान के अनुच्छेद-356 के कथित दुरुपयोग किए जाने का उल्लेख भी किया। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया कि संविधान के अनुच्छेद-61 के तहत राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है, लेकिन राज्यपालों पर महाभियोग लगाने का संविधान में प्रावधान नहीं है, जबकि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

जनता पार्टी के सत्यप्रकाश मालवीय ने शिकायत की कि केन्द्र ने राज्यपाल की नियुक्ति से पहले मुख्यमंत्रियों से सलाह लेने की परम्परा को समाप्त कर दिया है। तेलगुदेशम के सत्यनारायण रेड्डी ने राज्यपाल-पद को ही समाप्त करने की माँग की। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के सुनील बसु राय की राय में इस आशय का विधेयक पहले ही लाया जाना चाहिए था। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन के दिनों में गवर्नर उपनिवेशवाद को बढ़ावा देते थे और आज के राज्यपाल केन्द्र सरकार की मर्जी राज्यों पर थोपते हैं। तेलगुदेशम के डॉ. जी. विजयमोहन रेड्डी ने कहा कि राज्यपाल राज्यों को अस्थिर करने वाले एजेण्टों की तरह काम करते हैं और उनके द्वारा राज्य सरकारों को बर्खास्त किए जाने की घटनाओं के कारण इस उच्च पद के सम्मान में कमी आई है। उन्होंने माँग की कि राज्यपाल का पद समाप्त कर दिया जाना चाहिए।[13]

पद के दुरुपयोग की आलोचना

विपक्षी दलों द्वारा मिजोरम और नागालैण्ड के राज्यपालों के निर्णय के बाद इस पद के दुरुपयोग की बढ़ती प्रवृत्ति की कटुतम आलोचना की। 8 अप्रैल, 1989 को नई दिल्ली में तीन गैर कांग्रेस (इ) मुख्यमंत्रियों, चोटी के विपक्षी नेताओं तथा प्रमुख वकीलों ने केन्द्र पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राज्यपालों का कठपुतली के रूप में इस्तेमाल करने का आरोप लगाया और माँग की कि राज्यपाल-पद पर नियुक्ति की वर्तमान पद्धति पर राष्ट्रीय बहस कराई जाए।

राज्यपालों पर राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेते हुए इन सभी लोगों ने कुछ राज्यों में राज्यपाल-पद के दुरुपयोग की बढ़ती प्रवृत्ति तथा नियुक्ति से पहले सम्बद्ध राज्य से परामर्श लेने में केन्द्र की विफलता की चर्चा की। भारतीय वकील संघ की ओर से

आयोजित इस सम्मेलन को सम्बोधित करने वाले वक्ताओं में पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योति बसु, केरल के मुख्यमंत्री ई. के.नयनार, मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद, मजदूर नेता दता सामन्त, भाकपा नेता एम. फारूकी, तेलगुदेशम के सी.माधव रेड्डी, न्यायविद् वी.आर. कृष्णअय्यर व पूर्व विधिमंत्री शांति भूषण सम्मिलित थे। कर्नाटक के मुख्यमंत्री एस.आर. बोम्मई के नहीं आने से उनका सन्देश पढ़कर सुनाया गया।

सम्मेलन में वक्ताओं ने राज्यपाल-पद की गरिमा की रक्षा के लिए एक अभियान चलाने का आह्वान किया, जिसका राजनीतिक हितों के लिए भारी दुरुपयोग किया जा रहा है।

सम्मेलन में कहा गया कि सम्बद्ध राज्य की सलाह के बाद 5 वर्ष के कार्यकाल में राज्यपाल पद पर किसी किस्म का दबाव नहीं डालना चाहिए और उसे राज्य सरकार की नीतियों, कार्यक्रमों और प्रशासन के विरुद्ध कुछ नहीं बोलना चाहिए। इस सम्बन्ध में सम्मेलन में एक प्रस्ताव भी पारित किया गया। सम्मेलन में कहा गया कि किसी भी क्षेत्र के प्रसिद्ध व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता है, किन्तु उसे केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टियों की राजनीति में भागीदार नहीं होना चाहिए।

देश भर के वकीलों की उपस्थिति में संघ के महासचिव हरदेवसिंह द्वारा पेश एक प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि राज्यपाल के रूप में अपना दायित्व पूरा कर लिया जाने के बाद केन्द्र अथवा राज्य सरकार को उन्हें कोई कार्य नहीं सौंपना चाहिए।[14]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों द्वारा अपनी भूमिका के सही रूप में निर्धारित नहीं किये जाने के कारण अनेक विवाद सामने आये, और यह स्थिति इतनी अधिक विवादास्पद बन गई कि इस पद को ही समाप्त किये जाने की माँग उठाई जाने लगी। लेकिन इस प्रश्न पर अत्यन्त गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए कि क्या राज्यपाल-पद को समाप्त कर दिया जाना चाहिए?

उपयोगिता निर्विवाद

भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यपाल-पद को समाप्त किये जाने की बात को किसी भी दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। देश की संघीय व्यवस्था में इस संस्था का कोई विकल्प नहीं है, और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास में भी इसकी बड़ी ही सार्थक उपयोगिता है। राष्ट्रीय एकीकरण में भी राज्यपाल बड़ी महती और उपयोगी भूमिका का निर्वाह कर सकते हैं। राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में, राज्यपाल राज्य-मंत्रिपरिषद् के मार्गदर्शक, परामर्शदाता, मित्र, अभिभावक और दार्शनिक की भूमिका के दायित्व का निर्वाह कर सकते हैं। वे राज्य की रचनात्मक और जनकल्याणकारी प्रवृत्तियों में सक्रिय रूप से भाग लेकर जनसाधारण का विश्वास अर्जित कर सकते हैं। अगर इस पद को समाप्त कर दिया जाता है तो इसके दूरगामी संवैधानिक और राजनीतिक परिणाम सामने आ सकते हैं।

सन् 1983 ई. में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की समीक्षा के लिए गठित सरकारिया आयोग ने राज्यपाल-पद के बारे में सभी राजनैतिक दलों, राज्य सरकारों, विधिवेत्ताओं और अन्य

प्रबुद्ध व्यक्तियों की राय ली है। कांग्रेस (इं) ने सरकारिया आयोग को दिये गये अपने ज्ञापन में यह स्पष्ट कर दिया कि वह राज्यपाल-पद को समाप्त करने के पक्ष में नहीं है। पार्टी ने सरकारिया आयोग से कहा कि इस पद को समाप्त किए जानें की कोई दलील न तो तर्कसंगत है और न ही उसे स्वीकार किया जा सकता है। यदि यह पद समाप्त कर दिया जाता है तो एक शून्य पैदा हो जाएगा जिससे अफरातफरी मच जाएगी तथा कानून और व्यवस्था सम्बन्धी अनेक समस्याएँ खड़ी होंगी।[15] पार्टी ने कहा है कि यदि इस प्रस्ताव को मंजूरी दे दी जाती है तो राष्ट्रपति का पद समाप्त किये जाने की भी माँग उठेगी। संविधान की धाराओं के अध्ययन से पता चलता है कि राष्ट्रपति को भी कमोबेश राज्यपाल जैसे काम अंजाम देने होते हैं। कई मामलों में तो उनका अधिकार-क्षेत्र राज्यपाल से भी कम होता है। दरअसल राज्यपाल के पास 'स्व-निर्णय' के अधिकार राष्ट्रपति से ज्यादा होते हैं। पार्टी ने कहा है कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के संदर्भ में राज्यपालों ने अब तक अपने दायित्वों का निर्वाह सफलतापूर्वक व संतोषजनक ढँग से किया है और यदि कहीं कोई भूल भी हो तो उसे मानवीय चूक ही माना जाना चाहिए। पार्टी एक ओर जहाँ राज्यपाल-पद को अनिवार्य मानती है, वहीं सत्तापक्ष इस बात पर भी सहमत है कि इस पद पर आसीन होने वाले व्यक्ति के लिए समुचित परिपक्वता, समृद्ध अनुभव कौशल व ज्ञान होने के अलावा मंत्रिपरिषद् को अपने साथ लेकर चलने की योग्यता होनी चाहिए तथा राज्य की जनता के कल्याण को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। राज्यपाल का सर्वोच्च दायित्व देश की एकता, अखंडता व प्रभुसत्ता की रक्षा करना है। पार्टी का मत है कि संविधान की धारा 256, 257 व 365 के तहत ऐसे हालात आ सकते हैं जबकि राज्यपाल की भूमिका व्यापक हो सकती है, ऐसे में राज्यपाल की भूमिका रचनात्मक होनी चाहिए। संविधान की धारा 356 के तहत राज्यपाल को राष्ट्रपति से कार्रवाई करने की सिफारिश उसी हालत में करनी चाहिए, जबकि इसके अतिरिक्त और कोई चारा न हो। राज्यपाल को पूरी तरह से संतुष्ट हो जाना चाहिए कि वह जो कर रहा है, राज्य व जनता के हित में है। पार्टी ने आयोग से यह भी कहा है कि राज्यपाल विभिन्न परिस्थितियों में राज्य व केन्द्र के बीच निकट सम्पर्क का काम करता है। पार्टी का कहना है कि यदि अतीत में राज्यपाल का कोई फैसला विवादास्पद पाया गया है तो ऐसे मामले थोड़े ही हैं और इनके लिए मानवीय भूल ही जिम्मेदार है तथा इनके पीछे राजनैतिक वजहें या कोई अन्य वजहें नहीं मानी जानी चाहिएँ। पार्टी का यह भी कहना है कि स्व-निर्णय अधिकारों के बारे में राज्यपाल को किसी तरह के दिशा-निर्देश देना संभव नहीं होगा और वैसे भी यदि इस सम्बन्ध में निर्देश जारी भी किए जाते हैं तो स्व-निर्णय की बात ही खत्म हो जाएगी। राज्यपालों के कार्यकाल के बारे में पार्टी का मत है कि यह राष्ट्रपति की इच्छा पर ही पद पर बने रह सकता है। पाँच वर्ष के लिए पद पर बने रहने की गारण्टी उसके लिए जरूरी नहीं है। अलबत्ता यह राज्यपाल के लिए स्वयं गरिमामय आचरण करने की गारण्टी है।[16] इस तरह से कांग्रेस (इ) ने भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यपाल-पद की उपयोगिता को स्वीकार किया है।

मई, 1987 ई. में भारतीय संसद द्वारा राज्यपालों के वेतन एवं भत्तों में वृद्धि सम्बन्धी विधेयक को पारित किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण माना जा सकता है कि देश की यह सर्वोच्च संस्था इस पद को बरकरार रखने के पक्ष में है। विधेयक में राज्यपाल के वेतन को साढ़े पाँच हजार रुपये से बढ़ाकर ग्यारह हजार रुपये करने की व्यवस्था है। इस वृद्धि को अप्रैल, 1986 ई. से लागू करने का प्रावधान निश्चित किया गया था। 5 अप्रैल, 1987 ई. को इस विधेयक पर हुई चर्चा का उत्तर देते हुए केन्द्रीय गृहमंत्री श्री बूटासिंह ने कहा कि राज्यपालों ने संतोषजनक भूमिका निभाई है... गृहमंत्री ने इस बात पर दुःख व्यक्त किया कि कुछ राज्यपालों के बारे में सदन में विवादास्पद बातें कही गई। यह उचित नहीं है, क्योंकि वे इस सम्बन्ध में सार्वजनिक तौर पर सफाई नहीं दे सकते।[17] कांग्रेस (इ) के शरद दिघे ने कहा कि इस पद पर आसीन व्यक्ति बुरा हो सकता है, लेकिन यह संस्था बुरी नहीं है।[18]

11 मई, 1987 ई. को राज्यसभा में हुई चर्चा में भाग लेते हुए अनेक सदस्यों ने इस पद की महत्ता को देखते हुए इसे बनाये रखने का समर्थन किया। कांग्रेस (इ) के पी.एन.शुक्ल ने कहा कि संघीष ढाँचे को बनाये रखने के लिए इस पद को बनाये रखना आवश्यक है।[19] कांग्रेस (इ) के ही मुरलीधर भंडारे ने कहा कि राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग केन्द्र के राज्यों के प्रति संवैधानिक दायित्वों के बारे में गलत धारणा पर आधारित है।[20]

जनवरी, 1988 में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विचार करने वाले सरकारिया आयोग ने राज्यपाल-पद को समाप्त करने की गैर कांग्रेसी दलों की बात को अस्वीकार करते हुए इस पद को बरकरार रखने की सिफारिश की।

19 अगस्त, 1988 को केन्द्रीय सरकार ने राज्यपाल-पद को समाप्त करने की माँग को अस्वीकार कर दिया। गृह-राज्यमंत्री संतोष मोहनदेव ने उस दिन लोकसभा में कहा कि राज्यपाल का पद संघीय ढाँचे का मुख्य आधार है, इसलिए इस पद को समाप्त करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। श्री देव केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में एक गैर सरकारी विधेयक पर हुई चर्चा में हस्तक्षेप कर रहे थे। उन्होंने कहा कि बीते वर्षों में राज्य के प्रमुख के रूप में राज्यपालों ने प्रभावी तरीके से काम किया है। एकाध घटनाएँ इसकी अपवाद हो सकती हैं।

केन्द्र सरकार द्वारा इस संकल्प को पुनः दोहराया गया। 17 मार्च, 1989 को गृह-राज्यमंत्री संतोष मोहनदेव ने लोकसभा में कहा कि राज्यपालों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के बारे में सरकारिया आयोग ने जो सिफारिशें की हैं, सरकार उस पर विचार करेगी, वैसे अभी वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन करने की कोई जरूरत नहीं है। उन्होंने राज्यपालों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के बारे में दिशा-निर्देश से सम्बन्धित जनता पार्टी के जयपाल रेड्डी के प्रस्ताव पर लोकसभा में हो रही चर्चा में दखल देते हुए कहा कि इस प्रकार के दिशा-निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने कहा कि चालीस वर्ष से वर्तमान व्यवस्था ठीक ढँग से काम कर रही है। श्री संतोष मोहन के उत्तर के बाद सदन ने प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया।

कांग्रेस (इ) के गौरीशंकर राजहंस ने केरल की राज्यपाल रामदुलारी सिन्हा के विरुद्ध प्रदेश की विधानसभा में प्रस्ताव पास किए जाने पर दुःख व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि विपक्षी दल आन्ध्रप्रदेश, नागालैण्ड तथा कुछ अन्य राज्यों के राज्यपालों के विरुद्ध भी आक्षेप कर रहे हैं। कांग्रेस (इ) के एन. तोम्बीसिंह ने कहा कि पूर्वोत्तर के सभी सात राज्यों के लिए अलग राज्यपाल होने चाहिएँ। उन्होंने कहा कि राज्यपालों की नियुक्तियों और काम के बारे में सभी प्रकार के विवाद समाप्त होने चाहिएँ।[21]

राज्यपालों का आचरणगत पक्ष

जहाँ तक राज्यपालों के आचरणगत पक्ष का प्रश्न है, निस्संदेह अनेक राज्यपालों को तीव्र आलोचना का शिकार बनना पड़ा। लेकिन दूसरी तरफ कतिपय ऐसे राज्यपाल भी हुए हैं, जिनका न केवल आचरण ही असंदिग्ध रहा, अपितु उनके कार्यों की राष्ट्रव्यापी प्रशंसा भी की गई। सर्वश्री श्री प्रकाश, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, गुरुमुख निहालसिंह, बी.के.नेहरू, डॉ. शंकरदयाल शर्मा, एल.पी. सिंह, और अर्जुनसिंह की भूमिका की सराहना हुई। पंजाब-समझौते को सम्पन्न कराने के लिए पंजाब के राज्यपाल श्री अर्जुनसिंह को राष्ट्र-व्यापी ख्याति प्राप्त हुई। सभी दलों ने उनकी प्रशंसा की। स्वतंत्रता के बाद यह पहला अवसर था कि किसी राजनीतिज्ञ का राज्यपाल के रूप में कार्य करने के कारण राष्ट्रीय-स्तर का व्यक्तित्व उभर कर सामने आया हो। पंजाब के राज्यपाल के रूप में श्री सिंह ने न केवल अकाली नेताओं का बल्कि राज्य की जनता का भी दिल जीत लिया था। स्व. श्री हरचन्दसिंह लोगोंवाल उन्हें सम्मान से 'सरदार अर्जुनसिंह' कहकर सम्बोधित करते थे। पंजाब में विधानसभा चुनाव को शांतिपूर्वक और सुव्यवस्थित रूप से सम्पादित करवाने के बाद उनका व्यक्तित्व बहुत ऊपर उठ गया। सरदार सुरजीतसिंह बरनाला को मुख्यमंत्री बनवाने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। श्री बरनाला के नेतृत्व वाली अकाली सरकार और उनके सम्बन्ध अत्यन्त आत्मीय रहे। 14 नवम्बर, 1985 ई. को जब उन्हें पंजाब के राज्यपाल-पद से हटा कर केन्द्रीय राजनीति में लाने का निर्णय किया गया तो बरनाला-मत्रिमंडल ने राज्यपाल के प्रति धन्यवाद का प्रस्ताव पारित किया। 14 नवम्बर, 1985 को श्री सुरजीतसिंह बरनाला के नेतृत्व वाले अकाली-मंत्रिमंडल ने राज्यपाल अर्जुनसिंह को उनकी सेवाओं के लिए धन्यवाद दिया। वित्तमंत्री श्री बलवन्तसिंह ने कहा कि हमें उनकी कमी खलेगी। अर्जुनसिंह ने समझौता करा कर पंजाब के इतिहास में 'हमेशा याद रखने वाली भूमिका अदा की है।'[22] राज्यपाल श्री अर्जुनसिंह ने कहा कि आठ महीने पहले मैं यहाँ एक अजनबी की तरह आया था। पर आज 'महान् पंजाबी लोगों' के दोस्त और शुभचिन्तक के रूप में विदा ले रहा हूँ। मेरे लिए इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है? उन्होंने कहा कि पंजाब छोड़ते मेरा मन उदास है।[23] श्री तपासे, रामलाल, और जगमोहन जैसे राज्यपालों के दौर में अर्जुनसिंह का बेदाग पद छोड़ना राज्यपाल-पद की गिरती गरिमा को सहारे वाला कदम साबित हुआ है। इस दौरान पंजाब पर — लोगोंवाल-राजीव समझौता, बरनाला सरकार का शपथ ग्रहण, हिंसा का ठहराव और केन्द्र से अकालियों के टकराव की इच्छा का मरना — जैसे बड़े काम हुए

हैं। ये सब अर्जुनसिंह के लिए तमगे ही हैं।[24] निस्संदेह राज्यपाल के रूप में अर्जुनसिंह को जो ख्याति मिली, वह असाधारण और अभूतपूर्व ही कही जायेगी। महाराष्ट्र के राज्यपाल डॉ. शंकरदयाल शर्मा का भारत के उपराष्ट्रपति पद पर सर्वसम्मति से चयन भी इस बात की पुष्टि करता है कि इस पद पर विलक्षण-योग्यता के व्यक्ति भी प्रतिष्ठित होते रहे हैं। अतः राज्यपाल-पद को समाप्त किये जाने का कोई औचित्य नहीं है।

समाधान कहाँ?

अब मूल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राज्यपाल-पद की प्रतिष्ठा को कैसे अक्षुण्ण रखा जाये? उनके प्रति जन-आस्था कैसे बनाई रखी जाये? उनकी कार्य-शैली को किस तरह से ऐसा बनाया जाये कि वे समान परिस्थितियों में अलग-अलग मापदण्ड नहीं अपनाकर समान मापदण्ड अपनायें? राज्य के संवैधानिक प्रधान और केन्द्रीय अभिकर्त्ता की दोहरी भूमिका में सन्तुलन कैसे स्थापित किया जाये? राज्य के विकास की गतिविधियों को बल देने के लिए उनकी भूमिका को कैसे सशक्त किया जाये? इस सम्बन्ध में अनेक विकल्प सामने आते हैं— प्रथम, सुस्थापित परम्पराओं या अभिसमयों का विकास किया जाये। प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ एम.वी.पायली ने भी इस मत का समर्थन किया है।[25] इंग्लैण्ड के संविधान के विकास में अभिसमयों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, और वहाँ वर्तमान में भी शासन व्यवस्था के संचालन में अभिसमयों का महत्त्व निर्विवाद है। लेकिन अब इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या भारतीय राजनीतिक पर्यावरण में अभिसमयों का विकास संभव है? इंग्लैण्ड में अभिसमयों के विकास के लिए सभी अनुकूल परिस्थितियाँ— ऐतिहासिक विकासक्रम, अभिसमयों के विकास की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, राजनीतिक नेतृत्व में अभिसमयों का पालन करने की राष्ट्रीय सहमति, और अभिसमयों के प्रति जनता की प्रतिबद्धता और उनके स्वयं पालन करने और देश के राजनीतिक नेतृत्व को पालन करवाने की शक्ति, विद्यमान है। लेकिन वर्तमान में भारतीय संदर्भ में इन परिस्थितियों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण का अभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। राज्यपाल-पद के बारे में अभिसमयों के विकास की अनिश्चितता की गुत्थी में उलझे रहने में कोई बुद्धिमानी नहीं है। कुछ मिलाकर ऐसा लगता है कि भारत की राजनीतिक जलवायु अभिसमय के कोमल पौधे के अनुकूल नहीं। यह पौधा प्रथम तो यहाँ उगता ही नहीं और अगर किसी प्रकार उग भी गया तो थोड़ी सी राजनीतिक गरमी से बहुत जल्द मुरझा जाता है।[26] देश में व्याप्त राजनैतिक अवसरवाद और अनैतिकता के वातावरण में अभिसमयों का विकास संभव नहीं है। उल्टे यहाँ तो दलगत राजनीतिक स्वार्थों ने इस संस्था के सम्बन्ध में विकसित हुए अभिसमयों को ही समाप्त कर दिया। सन् 1967 ई. से पूर्व राज्यपाल-पद के बारे में यह परम्परा सी बन गई थी कि केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करने से पूर्व उस राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श करके निर्णय लिया जायेगा। केन्द्र में प्रतिष्ठित कांग्रेसी सरकार द्वारा राज्यों में स्थित अपनी दलीय सरकारों के साथ इसका निर्वाह किया जाता रहा। लेकिन 1967 ई. के चुनाव के पश्चात् अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के सत्तारूढ़ होने के साथ ही इस परम्परा को समाप्त-सा कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार ने गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों

से न केवल राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श नहीं किया, अपितु ऐसे राज्यपालों को भी नियुक्त किया, जिनके प्रति मुख्यमंत्रियों ने खुलेआम अपना विरोध प्रकट किया था। इसके अलावा राज्यपालों की कार्य-शैली के बारे में भी अभिसमयों का विकास नहीं हो सका। इतना ही नहीं, राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति, और विधानसभाओं के विघटन के सम्बन्ध में सुस्थापित संसदीय परम्पराओं का अनुसरण करने के स्थान पर केन्द्रीय सरकार के 'निर्देशों' का ही पालन किया है। देश की नवीनतम राजनैतिक स्थिति के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है कि इस देश में राज्यपाल-पद के बारे में सुनिश्चित और सुस्थापित अभिसमयों का विकास अत्यन्त दुष्कर कार्य लगता है।

द्वितीय, कतिपय संविधान-विशेषज्ञ राज्यपालों के लिए दिशा-निर्देश दिये जाने के पक्ष में हैं। उनका यह अभिमत है कि राज्यपालों को उनकी भूमिका, शक्तियों और कर्त्तव्यों के बारे में स्पष्ट रूप से दिशा-निर्देश (Guidelines) जारी किये जाने चाहिएँ। राज्यपाल समिति ने राज्यपालों के लिए दिशा-निर्देश निर्धारित किये हैं। लेकिन विगत वर्षों की प्रमुख घटनाओं के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि राज्यपालों ने न तो उन दिशा-निर्देशों के अनुरूप ही आचरण किया, और न ही उनका व्यवहार एक-सी परिस्थिति में भी समान ही रहा। इससे दिशा-निर्देशों की अप्रासंगिकता स्पष्ट हो जाती है। इसके अलावा राज्यपालों की भूमिका मात्र संवैधानिक ही नहीं है, उन्हें राजनीतिक परिस्थितियों में 'राजनीतिक भूमिका' का भी निर्वाह करना पड़ता है। इनमें केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनैतिक दल के हित, प्रधानमंत्री का राज्य सरकारों के प्रति व्यवहार, राज्य के मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री के राजनैतिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध, राज्य-विधानसभा में सत्तारूढ़ दल की स्थिति, मुख्यमंत्री की अपने दल में सुदृढ़ता, राज्यपाल और मुख्यमंत्री के सम्बन्ध, तथा राज्यपाल के व्यक्तित्व जैसे तत्त्व सम्मिलित किये जा सकते हैं। अतः राज्यपालों के लिए यह सदैव संभव नहीं होता है कि वे दिशा-निर्देशों के अनुसार ही आचरण करें। इसके अलावा संविधान में सभी स्थितियों को पूरी तरह से स्पष्ट नहीं किया गया है। अतः यह संभव नहीं है कि राज्यपालों को सभी मामलों में दिशा-निर्देश जारी किये जाएँ। उन्हें समय, स्थान, और परिस्थितियों के अनुरूप निर्णय लेने पड़ते हैं। अतः राज्यपालों के लिए दिशा-निर्देश जारी करना व्यावहारिक दृष्टि से सामयिक और सार्थक नहीं लगता है।

तृतीय, एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि राज्यपालों के लिए आचार-संहिता (Code of Conduct) का निर्माण करने के लिए अन्तर्राज्य परिषद् (Inter State Council)का गठन किया जाये। सिद्धान्त में तो यह सुझाव ठीक लगता है, लेकिन व्यवहार में इस मत की सार्थकता के आगे प्रश्न-वाचक चिह्न लग जाते हैं। संविधान में राज्यपालों की भूमिका के सम्बन्ध में उल्लिखित प्रावधान पूर्णरूप से स्पष्ट हैं। अगर राज्यपालों ने उनका सच्चे अर्थों में पालन किया होता तो किसी प्रकार की समस्या ही उठ खड़ी नहीं होती। अतः इस बात की कोई गारण्टी नहीं दी जा सकती कि राज्यपालों के लिए 'आचार-संहिता' का निर्माण कर देने मात्र से ही आगे कोई समस्या उठ खड़ी नहीं होगी।

चतुर्थ, एक सुझाव यह भी दिया जाता है कि संविधान में संशोधन करके अन्य मुद्दों को स्पष्ट कर देना चाहिए, जो विवादग्रस्त हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में भी कठिनाई

तब उपस्थित होती है, जबकि संवैधानिक प्रावधानों का दलीय हितों में मनचाहा अर्थ लगाने की प्रवृत्ति विद्यमान है। समय-समय पर विगत वर्षों में राज्यपालों की शक्तियों और भूमिका से सम्बन्धित प्रावधानों की भी मनचाही व्याख्या की गई। अतः संविधान में संशोधन करने मात्र से समस्या का समाधान नहीं होगा, अपितु कठिनाइयों में और अधिक वृद्धि होगी।

पंचम्, इस समस्या का समाधान इसी भावना में खोजा जा सकता है कि राज्यपाल स्वयं अपना 'दायित्व बोध' समझकर के निष्पक्षता के साथ आचरण करके इस संस्था की गरिमा और प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित करें। जब वे स्वयं ही इस भावना से प्रेरित होकर कार्य करेंगे तो उनके कार्यों पर अनुचित टीका-टिप्पणी नहीं की जायेगी, और इस तरह से वे 'आरोप की राजनीति' से भी मुक्त रहेंगे। यही सर्वोत्तम विकल्प है।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि इस पद की भारत की संघात्मक और संसदीय व्यवस्था में महती भूमिका है। आज भी इस पद की प्रासंगिकता और उपयोगिता बराबर बनी हुई है। लेकिन राज्यपालों की कार्य-शैली और भूमिका ने देश की राजनीतिक व्यवस्था में जो अनावश्यक और अवांछनीय विवाद उपस्थित किये हैं, उनकी भी अनदेखी नहीं की जा सकती है। उनको टालते रहने की प्रवृत्ति बड़ी ही घातक सिद्ध हो सकती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस पद को उपयोगी और अविवादास्पद बनाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किये जाएँ, ताकि यह पद देश की संघात्मक व्यवस्था को सुदृढ़ और सशक्त बना सके।

संदर्भ

1. राजमन्नार समिति प्रतिवेदन, 1971, पृष्ठ 121
2. डॉ. इकबाल नारायण; ट्वीलाइट् और डान; पालिटिकल चेन्ज इन इण्डिया, 1967-71 (शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1972) पृष्ठ 194
3. डॉ. चन्द्रपाल; स्टेट आटोनोमी इन इण्डियन फैडरेशन, (दीप एण्ड दीप पब्लिशर्स, नई दिल्ली 1984) पृष्ठ 162
4. हिन्दुस्तान टाइम्स; नई दिल्ली, जनवरी 4, 1986, पृष्ठ 1
5. जौहरी, डॉ. जे.सी; भारतीय शासन और राजनीति, (विशाल पब्लिकेशन्स, दिल्ली 1975) पृष्ठ 204
6. पंचारिया, भवानी शंकर, संविधान सभा में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध पर चिन्तन और उसके स्वरूप की पृष्ठभूमि, लोकतंत्र समीक्षा, वर्ष 16, अंक 1-4, जनवरी-दिसम्बर, 1984 (सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली) पृष्ठ 57
7. तत्रैव।
8. दिनमान, नई दिल्ली, मार्च 30-अप्रैल 5, 1980, पृष्ठ 27
9. नवभारत टाइम्स, जयपुर, मई 6, 1987, पृष्ठ 1
10. तत्रैव।